जीवन का सच्चा लक्ष्य – २

जीवन के सच्चे लक्ष्य की संसिद्धि हेतु किस प्रकार
व्यक्ति मार्ग पर अग्रसर किया जा सकता है

(श्रीमाँ एवं श्रीअरविन्द के शब्दों में)

''एक ऐसी शक्ति है जिस पर किसी शासक का अधिकार नहीं हो सकता, एक ऐसी प्रसन्नता है जिसे कोई पार्थिव सफलता नहीं प्रदान कर सकती, एक ऐसा प्रकाश है जिसे कोई ज्ञान नहीं अधिगत कर सकता, एक ऐसी विद्या है जिस पर न कोई दर्शनशास्त्र और न कोई भौतिक विज्ञान अधिकार प्राप्त कर सकता है, एक ऐसा आनंद है जिसका रसास्वादन किसी कामना की तृप्ति नहीं करवा सकती, एक ऐसी प्रेम पिपासा है जिसे कोई मानवीय संबंध तुष्ट नहीं कर सकता, एक ऐसी शांति है जो कहीं नहीं, यहाँ तक कि मृत्यु में भी नहीं मिल सकती।

यह वह शक्ति, प्रसन्नता, प्रकाश, विद्या, आनंद, प्रेम और शांति है जो भागवत् कृपा से प्रवाहित होती है।''[१]

पुस्तक में प्रस्तुत सभी उद्धरण श्रीअरविन्द के ग्रंथों में से लिए गए हैं। उद्धरण श्रीअरविन्द आश्रम, पुदुच्चेरी के कॉपीराइट के अंतर्गत हैं तथा उसकी अनुमति से छापे गए हैं।

सभी उद्धरणों के पूर्व यथासंबंध श्रीमाँ व श्रीअरविन्द के प्रतीक चिह्न दिये गये हैं। चूँकि यहाँ मुद्रित कुछ उद्धरणों का अनुवाद स्वयं प्रकाशक द्वारा ही किया गया है अथवा अन्य स्थानों पर मूल विचार को अधिक सुगम व स्पष्ट करने के उद्देश्य से उपलब्ध अनुवाद में संशोधन किए गए हैं इसलिए उद्धरणों के लिए मूल स्रोतों की ही सूची दी गई है।

सभी उद्धरणों के चयन, प्रस्तुति-क्रम व विभिन्न शीर्षकों में उनके वर्गीकरण के लिए सम्पादक उत्तरदायी है।

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, २०१६

प्रकाशक :-

Resurgent India

द रिसर्जेन्ट इण्डिया ट्रस्ट
श्रीअरविन्द निकेतन, खेतान मोहल्ला,
झुन्झुनू - ३३३००१, राजस्थान।
URL: www.resurgentindia.org
www.aurokart.com

विषय-सूची

१. जीवन का सच्चा लक्ष्य.....५

२. अनेकानेक शुरुआतें.....७

वे विभिन्न तरीके जिनसे पुकार आ सकती है तथा प्रथम झुकाव....७

३. श्रीअरविन्द के पूर्ण योग का सच्चा लक्ष्य एवं उसका मूलभूत औचित्य.....१८

४. योग-साधना के अभ्यास एवं उसकी प्रणाली से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों की परिभाषाएँ..... २९

१. बाहर निकलने का रास्ता.....२९

२. चेतना.....३०

३. सच्चिदानंद.....३०

४. अतिमानस – दिव्य मन.....३१

५. केंद्रीय सत्ता.....३१

६. आत्मा.....३२

७. अन्तरात्मा.....३२

८. स्पिरिट.....३२

९. चैत्य पुरुष.....३३

१०. भगवान्.....३५

११. श्रद्धा.....३७

१२. प्रेम और भक्ति.....४१

१३. समर्पण.....४३

१४. अभीप्सा एवं कामना अथवा माँग.....४५

१५. त्याग.....४६

१६. सत्य.....४७

१७. साधना, तपस्या, आराधना, ध्यान.....४७
१८. रहस्यवाद एवं गुह्यवाद.....४८
१९. अनुभव, सिद्धि, साक्षात्कार.....४८
२०. प्रकाश, अंतर्दर्शन एवं वाणियाँ.....५१
२१. प्रतीक.....५४
२२. अज्ञान, मिथ्यात्व एवं विरोधी सत्ताएँ.....५६

५. किस प्रकार व्यक्ति मार्ग पर अग्रसर किया जा सकता है – पूर्ण योग की साधना की प्रक्रिया.....६०
१. कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व एवं पथ की पहली आवश्यकताएँ.....६१
२. प्रकृति की तैयारी – प्रकृति का उद्घाटन, शुद्धिकरण एवं परिवर्तन ६६
३. साधना में अनुभवों तथा उपलब्धियों का स्वरूप एवं उनकी भूमिका.....७५
४. साधना की प्रक्रिया – मार्ग पर होने वाले अनुभव तथा उनका मूलभूत औचित्य.....९३
(i) मूल सिद्धांत.....९३
(ii) प्रथम आवश्यकता.....१०३
(iii) हमारी सत्ता की जटिलता के कारण उत्पन्न हुई कार्य की जटिलता.....१०६
(iv) साधनाक्रम – मार्ग पर होने वाले अनुभव.....११३
५. मार्ग पर आने वाली कठिनाईयाँ तथा उनसे कैसे निपटा जाए.....१३४
६. विरोधी शक्तियों का विरोध.....१३८

६. मार्ग विषयक कुछ अन्य आलोक.....१४३

1. जीवन का सच्चा लक्ष्य

''दिव्य जीवन की ओर आरोहण ही मानव यात्रा है, कर्मों का 'कर्म' और स्वीकार करने योग्य 'यज्ञ' है। यही जगत् में मनुष्य का एकमात्र वास्तविक कार्य तथा उसके अस्तित्व का औचित्य है, जिसके बिना वह इस भौतिक ब्रह्माण्ड की भयंकर विशालताओं के बीच सतही कीचड़ व पानी के संयोग से अपने-आप बने एक छोटे-से कण – पृथ्वी – पर अन्य क्षणभंगुर कीटों के बीच मात्र एक रेंगता हुआ कीट-मात्र ही रहेगा।''[२]

''...मुझे ऐसा लगता है कि यही वह पहला प्रश्न है जो मनुष्य को अपने-आपसे पूछना चाहिये : 'मैं यहाँ क्यों हूँ?''[३]

''मूल रूप में जीवन जीने का केवल एक ही सच्चा हेतु है : वह है अपने-आपको जानना। हम यहाँ (पृथ्वी पर) सीखने के लिये हैं – यह सीखने के लिये कि हम क्या हैं, यहाँ क्यों हैं, और हमें क्या करना है। और यदि हम यह नहीं जानते तो हमारा जीवन सर्वथा रिक्त है – अपने लिये भी और दूसरों के लिये भी।''[४]

''जीवन का एक प्रयोजन है। यह प्रयोजन है भगवान् को खोजना और उनकी सेवा करना। भगवान् दूर नहीं हैं, 'वे' हमारे अंदर हैं, अंदर गहराई में, भावनाओं और विचारों के ऊपर। भगवान् के साथ है शांति, निश्चिति और साथ ही सभी कठिनाइयों का समाधान भी। अपनी समस्याएँ भगवान् को सौंप दो और 'वे' तुम्हें सभी कठिनाइयों से बाहर निकाल लेंगे।''[५]

''व्यष्टिगत आत्मा और समष्टिगत आत्मा एक ही हैं, हर एक जगत् में, हर एक सत्ता में, हर एक वस्तु में, हर अणु में 'भागवत्

उपस्थिति' विद्यमान है और मनुष्य का लक्ष्य है उसे अभिव्यक्त करना।''[६]

''**हमारा उद्देश्य होना चाहिये वैसे ही पूर्ण होना, जैसे कि भगवान् अपनी सत्ता और आनंद में पूर्ण हैं; पवित्र होना, जैसे कि वे पवित्र हैं; आनंदमय होना, जैसे कि वे आनंदमय हैं**; और जब हम स्वयं पूर्णयोग में 'सिद्ध' हो जायें तब सारी मानवजाति को उसी भागवत् परिपूर्णता तक ले जाना ...हमारा अटल उद्देश्य होना चाहिये समूची यात्रा को पूरा करना, न कि मार्ग के बीच किसी पड़ाव या किसी अपूर्ण विश्रामस्थल में संतोषपूर्वक लेट जाना।''[७]

2. अनेकानेक शुरुआतें

वे विभिन्न तरीके जिनसे पुकार आ सकती है तथा प्रथम झुकाव

"जिसने अनंत को चुना है वह अनंत के द्वारा चुन लिया गया है।"[५]

"मन को ऐसा कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता जो कि मनुष्य की विकसनशील अंतरात्मा में सन्निहित ज्ञान के रूप में पहले से ही निहित न हो। ....समस्त शिक्षा एक प्रकटीकरण है.... इस प्रकटीकरण का सामान्य माध्यम है 'शब्द', जो सुना गया है 'श्रुत'। यह शब्द हमारे पास अंदर से आ सकता है या यह हमारे पास बाहर से आ सकता है। परंतु दोनों में से किसी भी अवस्था में वह गुप्त ज्ञान को क्रियाशील बनाने का साधन मात्र होता है। हमारे अंदर का शब्द हमारी उस अंतरतम आत्मा की वाणी हो सकता है जो सदैव भगवान् की ओर खुली रहती है; अथवा वह उन गूढ़ एवं विश्वव्यापी परम् गुरु का शब्द हो सकता है जो सब के हृदयों में विराजमान है। कुछ विरले उदाहरण हैं जिनमें और किसी की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि बाकी सारा योग उस सतत् संस्पर्श तथा मार्गदर्शन के प्रभाव के अंतर्गत एक उद्घाटन मात्र होता है; ज्ञान का कमल स्वयं को उस जाज्वल्यमान तेज की शक्ति के द्वारा भीतर से उद्घाटित कर देता है जो कि हृदय-कमल-वासी से प्रवाहित होती है। निःसंदेह यह उत्कृष्ट बात है, परंतु ऐसे लोग विरले ही होते हैं जिनके लिए इस तरह भीतर का आत्म ज्ञान ही पर्याप्त होता है और जिन्हें किसी लिखित पुस्तक या जीवित गुरु के प्रबल प्रभाव के अनुसार चलने की आवश्यकता नहीं होती।

साधारणतया, आत्मोद्घाटन के कार्य में सहायक के रूप में बाहर

से प्राप्त भगवान् के प्रतिनिधिरूपी 'शब्द' की आवश्यकता होती ही है, और यह शब्द किसी प्राचीन गुरु का प्रभावी शब्द या फिर विद्यमान गुरु का और भी अधिक प्रभावपूर्ण शब्द हो सकता है। कुछ व्यक्तियों में इस प्रतिनिधि शब्द को केवल आंतरिक शक्ति के जागृत और अभिव्यक्त होने के निमित्त मात्र के रूप में लिया जाता है; मानो कि यह सर्वशक्तिमान व सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्रकृति का संचालन करने वाले सामान्य नियम का अनुमोदन किया गया हो। इसी प्रकार देवकी के पुत्र कृष्ण के बारे में उपनिषदों में ऐसा कहा गया है कि उन्हें ऋषि घोर से शब्द प्राप्त हुआ और उससे ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी प्रकार रामकृष्ण ने स्वयं के आंतरिक प्रयास द्वारा केंद्रीय प्रकाश को प्राप्त करने पर भी योग के विभिन्न मार्गों में अनेक गुरु स्वीकार किये, परंतु सर्वदा ही अपनी अनुभूति के ढंग और स्फूर्ति से यह दर्शाया कि यह स्वीकृति उस सामान्य नियम का अनुमोदन ही थी जिसके अनुसार प्रभावकारी ज्ञान एक शिष्य के रूप में गुरु से ही प्राप्त किया जाना चाहिए।

परंतु सामान्यतया साधक के जीवन में प्रतिनिधि-रूपी प्रभाव एक बहुत विशाल स्थान रखता है। यदि योग का निर्देशन किसी लिखित शास्त्र – प्राचीन काल से कुछ ऐसे 'शब्द' जो पूर्व योगियों के अनुभव का मूर्त रूप हैं – के द्वारा हो तो इसका अभ्यास या तो केवल निजी प्रयास द्वारा या किसी गुरु की सहायता द्वारा किया जा सकता है। तब आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति सिखाये गये उन प्रतिपादित सत्यों पर ध्यान-चिंतन के द्वारा होती है और उसे (ज्ञान को) अपने व्यक्तिगत

"भगवान् तथा उनके दूतों की वाणी को न सुनना ही जगत् में समझदारी का अभिप्राय है।"[१]

अनुभव में संसिद्ध कर जीवंत एवं जागृत किया जाता है; योग किसी शास्त्र या परंपरा में सिखाए गए निर्धारित तरीकों द्वारा अग्रसर होता है और गुरु के निर्देशों द्वारा पुष्ट व आलोकित होता है। यह एक संकीर्णतर पद्धति है परंतु अपनी सीमाओं के भीतर सुरक्षित एवं प्रभावशाली है, क्योंकि यह चिर-परिचित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए एक सुपरिचित पथ का अनुसरण करती है।

पूर्णयोग के साधक के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि कोई भी लिखित शास्त्र, चाहे उसकी प्रामाणिकता कितनी भी महान् क्यों न हो तथा उसका भाव कितना भी विशाल क्यों न हो, शाश्वत ज्ञान की एक आंशिक अभिव्यक्ति से बढ़कर कुछ नहीं हो सकता। वह (साधक) उसका उपयोग तो करेगा, किंतु महान्-से-महान् शास्त्र से भी अपने-आप को बाँधेगा नहीं। जब शास्त्र गहन, व्यापक एवं उदार होगा तो वह साधक के ऊपर एक ऐसा प्रभाव डाल सकता है जो उसके लिए अत्यंत हितकर और अपरिमेय महत्त्व का हो। यह (प्रभाव) अनुभव में उसके सर्वोपरि सत्यों की ओर उसके जागरण तथा उच्चतम अनुभवों की उसकी अनुभूति के साथ संबद्ध हो सकता है। उसका योग दीर्घकाल तक एक ही शास्त्र या क्रमशः अनेक शास्त्रों के द्वारा – उदाहरणार्थ, यदि वह महान् हिंदू परंपरा का अनुसरण करता है तो गीता, उपनिषद् या वेद के द्वारा – संचालित हो सकता है या फिर उसके विकास का एक बड़ा भाग अनेक ग्रंथों के सत्यों के ऐश्वर्यशाली नानाविध अनुभवों को अपनी सामग्री में समाविष्ट करने का तथा अतीत में जो कुछ सर्वोत्तम रहा है उससे भविष्य को समृद्ध बनाने का हो सकता है। किंतु अंत में उसे अपना स्थिर-स्थान बनाना होगा अथवा बेहतर होगा यदि वह ऐसा कर सके कि, प्रारम्भ से एवं सर्वदा ही उस शब्द, जिसका कि वह उपयोग करता है, की सीमाओं

से परे अपनी आत्मा में निवास करे। गीता स्वयं ऐसा प्रतिपादन करती है कि योगी को अपने विकास में लिखित सत्य से परे जाना होगा, – *शब्द ब्रह्मातिवर्तते* – उस सब के परे जो उसने आज तक सुना है या जो अभी सुनना बाकी है, – *श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च*। क्योंकि वह किसी एक ग्रंथ या अनेकानेक ग्रथों का साधक नहीं होता, वह अनंत का साधक होता है।''[१०]

***

''**समस्त योग स्वभावतः एक नवजन्म है; यह मनुष्य के साधारण, मनोमय भौतिक जीवन से निकलकर एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतना तथा एक महत्तर एवं दिव्यतर सत्ता में जन्म है।** किसी भी योग का सफलतापूर्वक आरम्भ एवं अनुसरण तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि उक्त विशालतर आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकता के प्रति एक प्रबल जागृति न हो। जिस आत्मा को इस गहरे एवं बृहत् आंतरिक परिवर्तन का आह्वान प्राप्त होता है, वह भिन्न-भिन्न तरीकों से इस पथ पर प्रारंभिक पदार्पण कर सकती है। वह इस पर अपने उस स्वाभाविक विकास द्वारा आ सकती है जो उसे बिना सचेतन बोध के जागरण की ओर निर्देशित करता रहा है; वह किसी धर्म के प्रभाव या किसी दर्शन के आकर्षण के द्वारा भी इस तक पहुँच सकती है; वह इस तक किसी क्रमशः बढ़ते हुए प्रकाश द्वारा या किसी आकस्मिक संस्पर्श या आघात द्वारा भी पहुँच सकती है; वह बाह्य परिस्थितियों के दबाव द्वारा या आंतरिक आवश्यकता के द्वारा भी इस तक आ सकती या इस तक

''आध्यात्मिक नियति सर्वदा ही स्थित रहती है – इसमें विलंब हो सकता है या कुछ समय के लिए यह लुप्त हुई प्रतीत हो सकती है, किंतु इसका विलोपन कभी नहीं होता।''[११]

धकेली जा सकती है; ऐसा किसी एक ही शब्द द्वारा भी साधित हो सकता है जो मन के आवरण को तोड़ देता है, या सुदीर्घ चिंतन द्वारा, या किसी ऐसे व्यक्ति के सुदूर दृष्टांत द्वारा जो पथ पर चल चुका हो अथवा उसके नित्य प्रभाव एवं संस्पर्श द्वारा भी हो सकता है। साधक की प्रकृति तथा परिस्थितियों के अनुसार ही यह आह्वान आएगा।

परंतु जिस भी तरीके से यह आए, **(इसके साथ ही) मन तथा संकल्प-शक्ति का निर्णय, और उसके परिणामस्वरूप, पूर्ण तथा प्रभावी आत्मोत्सर्ग भी आवश्यक है।** सत्ता में एक नूतन आध्यात्मिक विचार-शक्ति की स्वीकृति एवं ऊर्ध्व-अभिमुखता, ज्ञान का प्रकाश, एक ऐसा दिशा-परिवर्तन या रूपांतर जिसे इच्छा-शक्ति व हृदय की अभीप्सा अधिगृहीत कर लें, – यह एक ऐसा महान् कृत्य है जिसमें वे सभी परिणाम बीज रूप में निहित होते हैं जो योग से प्राप्त होने हैं। किसी सुदूर उच्चता के प्रति मात्र विचार या बौद्धिक जिज्ञासा, चाहे मन की रुचि द्वारा उसे कितने भी प्रबल रूप से पकड़ा गया हो, तब तक प्रभावहीन रहती है जब तक कि उसे हृदय द्वारा एकमात्र वांछनीय वस्तु तथा इच्छा-शक्ति द्वारा एकमात्र करणीय कार्य के रूप में दृढ़ रूप से नहीं पकड़ लिया जाता। क्योंकि **आत्मा के सत्य को केवल विचारना ही नहीं अपितु जीना होगा, और उसे जीना एक एकीकृत एकनिष्ठता की माँग करता है; योग के द्वारा अपेक्षित यह एक ऐसा महान् परिवर्तन है जो किसी विभक्त इच्छा-शक्ति द्वारा या ऊर्जा के स्वल्प-अंश के द्वारा या फिर सँकुचाते हुए मन द्वारा साधित नहीं हो सकता। जो भगवान् को पाना चाहता है उसे स्वयं को भगवान् के प्रति और केवल भगवान् के प्रति उत्सर्ग करना होगा।**

यदि परिवर्तन किसी अदम्य प्रभाव के द्वारा एकाएक और सुनिश्चित रूप में संपन्न हो जाए तो फिर अन्य कोई मूलभूत या स्थायी कठिनाई नहीं रह जाती। मार्ग का चयन विचार के बाद ही या उसके साथ ही साथ हो जाता है और चयन के बाद सहज रूप से आत्मोत्सर्ग हो जाता है। चरण पहले ही मार्ग पर दृढ़ता से रखे जा चुके होते हैं, चाहे प्रारंभ में वे अनिश्चित रूप से भटकते हुए ही प्रतीत क्यों न हों और चाहे स्वयं मार्ग भी धुँधले रूप से दिखाई क्यों न देता हो और लक्ष्य का ज्ञान भी अधूरा क्यों न हो। गुप्त गुरु, अंतस्थ मार्गदर्शक पहले ही कार्यरत हो चुका है, भले ही वह अभी अपने-आप को प्रकट न करे या अपने मानवीय प्रतिनिधि रूपी व्यक्ति में अभी न दिखाई दे। चाहे जो कठिनाइयाँ या दुविधाएँ क्यों न पैदा हों, वे अंततः उस अनुभव की शक्ति के आगे नहीं टिकी रह सकतीं जिसने जीवन की धारा को पलट दिया है। **यह आह्वान एक बार निर्णायक रूप से होने पर स्थायी रहता है; जो चीज उत्पन्न हो चुकी है उसे अंततः दबाया नहीं जा सकता है।** भले ही परिस्थितियों का दबाव व्यक्ति को आरंभ में नियमित अभ्यास या व्यवहार में पूर्ण क्रियात्मक आत्मोत्सर्ग करने से रोके, फिर भी मन ने अपनी दिशा निश्चित कर ली होती है और वह डटा रहता है तथा नित-वर्धनशील प्रभाव के साथ अपनी प्रमुख तन्मयता की ओर लौटता रहता है। **आंतर सत्ता में एक अजेय दृढ़ता होती है, और इसके समक्ष अंत में परिस्थितियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं, तथा प्रकृति की कोई भी दुर्बलता अधिक समय तक बाधा नहीं बनी रह सकती है।**

परंतु प्रारंभ सर्वदा ही इस ढंग से नहीं होता। साधक प्रायः धीरे-धीरे ही आगे ले जाया जाता है और मन के प्रथम रुझान तथा प्रकृति

द्वारा रुझान की उस विषय-वस्तु के प्रति पूर्ण स्वीकृति के बीच एक दीर्घ अंतराल होता है। प्रारंभ में उस विचार के प्रति केवल एक जीवंत बौद्धिक अभिरुचि, एक प्रबल आकर्षण तथा प्रयास का रूप अपूर्ण हो सकता है। या कदाचित् इस प्रयास को संपूर्ण प्रकृति का समर्थन प्राप्त न हो, यह निर्णय या यह रुझान किसी बौद्धिक प्रभाव द्वारा थोपा गया हो या फिर किसी ऐसे व्यक्ति, जो स्वयं सर्वोच्च के प्रति समर्पित एवं निष्ठावान हो, के प्रति व्यक्तिगत स्नेह व श्रद्धा द्वारा निर्धारित हो। ऐसे उदाहरणों में, इससे पहले कि अटल आत्मोत्सर्ग आए, तैयारी के एक सुदीर्घ काल की आवश्यकता होती है; और कुछ उदाहरणों में तो कदाचित् वह आए ही नहीं। यह संभव है कि कुछ प्रगति हो, प्रबल प्रयास हो, यहाँ तक कि बहुत शुद्धिकरण भी हो और केंद्रीय या परमोच्च अनुभवों के अतिरिक्त अन्य अनेक अनुभव भी हों; परंतु जीवन या तो तैयारी में बीत जाएगा या फिर किसी निश्चित स्तर तक आने के बाद किसी अपूर्ण प्रेरक-शक्ति द्वारा चालित मन अपने भरसक संभव प्रयास की सीमा तक आकर संतुष्ट हो जायेगा। यहाँ तक कि संभवतः निम्नतर जीवन की ओर प्रत्यागमन हो जाए – जिसे योग की सामान्य परिभाषा में पथभ्रष्ट होना कहते हैं। यह पतन इसलिए होता है क्योंकि केंद्र-मात्र में कोई दोष होता है। बुद्धि उस पुरुषार्थ के प्रति अनुरक्त होती है, हृदय आकृष्ट होता है, इच्छाशक्ति ने भी

"...जब तुम पथ पर होते हो, तो कभी भी उसका परित्याग न करो। कुछ प्रतीक्षा करो, पथ को स्वीकार करने से पूर्व तुम चाहो उतनी देर संकुचा सकते हो; परंतु जिस क्षण से तुम उस पर पदार्पण करो, तो बस, उसे छोड़ो मत। क्योंकि इसके परिणाम हैं जो अनेक जन्मों तक असर डाल सकते हैं। यह बहुत ही गंभीर है। इसीलिए सब कुछ के बावजूद योग पथ पर प्रवेश करने के लिए मैं कभी किसी को बाध्य नहीं करती।"[१२]

उसके साथ गठबंधन किया होता है, किंतु सम्पूर्ण प्रकृति भगवान् द्वारा वशीभूत नहीं हुई होती है। उसने तो उस अभिरुचि, उस आकर्षण तथा उस प्रयास में केवल अपनी मौन-सम्मति ही दी होती है। एक प्रयोग हुआ है, यहाँ तक कि संभवतः एक उत्कंठित प्रयोग, किंतु आत्मा की अनिवार्य आवश्यकता के प्रति या किसी अपरिहार्य आदर्श के प्रति संपूर्ण आत्म-दान नहीं हुआ है। परन्तु इस प्रकार का अपूर्ण योग भी व्यर्थ नहीं जाता; क्योंकि कोई भी ऊर्ध्वमुखी प्रयास व्यर्थ नहीं होता। वर्तमान में यदि यह असफल ही क्यों न हो गया हो या केवल किसी आरंभिक अवस्था या प्राथमिक उपलब्धि तक ही पहुँच पाया हो, फिर भी इसने आत्मा का भविष्य सुनिश्चित कर दिया होता है।

परंतु यदि हम इस जीवन द्वारा प्रदान किये उस सुअवसर का अधिकतम लाभ उठाना चाहें, यदि हमें प्राप्त हुए उस आह्वान का हम यथेष्ट रूप से प्रत्युत्तर देना चाहते हैं तथा उस लक्ष्य, जिसकी हमें झलक मिल चुकी है, की ओर केवल बढ़ना मात्र ही नहीं अपितु उसे प्राप्त करना चाहते हैं तो यह अनिवार्य है कि आत्म-दान पूर्ण हो। **योग में सफलता का रहस्य है इसे जीवन के अनेकानेक अनुसरणीय लक्ष्यों में से कोई एक नहीं वरन् एकमेव उद्देश्य समझा जाए, उसे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग ही नहीं, अपितु संपूर्ण जीवन ही समझा जाए।**''[१३]

''कई बार प्रकट रूप में कोई कारण होता है – सतही प्राण की निराशा, दूसरों द्वारा स्नेह का प्रत्यावर्तन, तथा यह बोध कि प्रियजन या प्रायः सभी लोग वैसे नहीं हैं जैसा कि व्यक्ति ने उनके बारे में सोचा था तथा अन्य बहुत से ऐसे कारण; किंतु बहुधा कारण होता है आंतर सत्ता के किसी भाग की गूढ़ निराशा जो कि मन में अपने को नहीं

समझा पाती या फिर सही रूप में नहीं समझा पाती क्योंकि इसने इन चीजों से वह अपेक्षा रखी थी जो वे पूरी नहीं कर सकते। बहुतों के साथ, जो आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ते या उसकी ओर धकेले जाते हैं, यही होता है। कुछ के लिए यह वैराग्य का रूप ले लेता है जो उन्हें तपस्वी की उदासीनता की ओर धकेलता है और मोक्ष की ओर प्रेरित करता है। हमारे लिए, हम जिसे आवश्यक मानते हैं वह यह है कि मिश्रण लुप्त हो जाना चाहिए तथा चेतना एक पवित्रतर स्तर पर स्थापित की जानी चाहिए...जहाँ पर कि यह मिश्रण न हो।''[१४]

''यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अमुक व्यक्ति का आध्यात्मिक अनुभव की ओर अकस्मात् उद्घाटन हुआ है – हमें ऐसा लगेगा कि एक आश्चर्यजनक रूप से आकस्मिक उद्घाटन, किंतु यह बहुधा इसी रूप में होता है, विशेषकर जब बाहरी भाग में संशयवादी मन तथा अंतर में अनुभूति के लिए तैयार आत्मा हो। ऐसे उदाहरणों में भी उद्घाटन बहुधा किसी ऐसे आघात के बाद आता है जैसे कि उस व्यक्ति के भाई की बीमारी, किंतु मेरे विचार से मन का उस ओर रूझान पहले से ही हो गया था जिसने कि इसे तैयार किया। यह आकस्मिक तथा अनवरत चित्रण यह भी दर्शाता है कि भीतर एक ऐसी क्षमता है जिसने उन द्वारों को छिन्न-भिन्न कर दिया जो उसे भीतर बंद किये हुए थे – अतिभौतिक दृष्टि की क्षमता। 'आत्म-दान' शब्द का ऊपर उठना भी इन अनुभवों का जाना पहचाना रूप है – इसी को मैं चैत्य की वाणी कहता हूँ, उसकी अपनी आत्मा द्वारा मन को यह आभास कराना कि वह उससे क्या करवाना चाहती है। अब उसे इसको स्वीकारना होगा, क्योंकि **प्रकृति की स्वीकृति, मनुष्य के बाहरी भाग की आंतरिक वाणी के प्रति स्वीकृति**

आवश्यक है ताकि वह प्रभावी हो सके।''[१५]

***

''वे सभी जो यहाँ आए थे, भगवान् के लिए एक सचेतन खोज के साथ नहीं आए थे। मन के बिना जाने ही उनके भीतर की अंतरात्मा उन्हें यहाँ ले आई। तुम्हारे दृष्टांत में भी वही कारण और (साथ ही) श्रीमाँ के साथ तुम्हारी आत्मा का संबंध दोनों थे। एक बार यहाँ आने के बाद भगवान् की शक्ति मानव प्रकृति पर तब तक कार्य करती रहती है जब तक कि अंतरात्मा के लिए आवरण से बाहर आने का एक मार्ग नहीं खुल जाता।''[१६]

***

''जब कोई भगवद्-पथ के लिए नियत होता है तो सभी परिस्थितियाँ उसे मन तथा प्राण के सभी भटकावों में से होते हुए भी किसी न किसी तरीके से उस पथ तक लाने में सहायता करती हैं। स्वयं उसके भीतर की चैत्य सत्ता तथा ऊपर भागवत् शक्ति ही हैं जो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मन तथा बाहरी परिस्थिति के उतार चढ़ावों को उपयोग में लाती हैं।''[१७]

***

''जब आत्मा को अग्रसर होना होता है और साथ ही एक प्रकार की बाहरी दुर्बलता भी हो तो ऐसी परिस्थितियाँ आती ही हैं जो बाहरी सत्ता को उसके स्वयं के विरुद्ध भी सहायता करती हैं – जिसका तात्पर्य यह है कि इनके पीछे एक वास्तव में सच्ची अभीप्सा अवश्य विद्यमान है; अन्यथा ऐसा नहीं होता।''[१८]

***

''आध्यात्मिक सुअवसर कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे हल्के रूप में इस विचार के साथ खो देना चाहिये कि अन्य किसी समय में यह ठीक रहेगा – कोई भी अन्य किसी समय के बारे में इतना आश्वस्त नहीं हो सकता।''[१९]

''जीवन तथा योग, दोनों के ही सही दृष्टिकोण में संपूर्ण जीवन ही सचेतन या अवचेतन रूप से एक योग है।''[२०]

3. श्रीअरविन्द के पूर्ण योग का सच्चा लक्ष्य एवं उसका मूलभूत औचित्य

''योग का उद्देश्य है भागवत् उपस्थिति एवं चेतना में प्रवेश करना तथा उसके द्वारा अधिगृहीत हो जाना, **केवल भगवान् के लिए ही भगवान् से प्रेम करना**, अपनी प्रकृति में भगवान् की प्रकृति से समस्वर होना तथा अपनी इच्छाशक्ति, क्रिया-कलापों तथा जीवन में भगवान् का यंत्र होना। इसका उद्देश्य कोई महान् योगी या अतिमानव होना (यद्यपि यह हो सकता है) या फिर अहम् की शक्ति, अभिमान या तुष्टि के लिए भगवान् को जकड़ना नहीं है। यह मोक्ष के लिए नहीं है यद्यपि इससे मुक्ति प्राप्त होती है और अन्य सभी वस्तुएँ इससे प्राप्त हो सकती हैं, किंतु ये हमारे उद्देश्य नहीं होने चाहिये। एकमात्र भगवान् ही हमारा उद्देश्य है।''[२१]

''स्पष्ट है कि भगवान् को *केवल* इसलिए खोजना कि उनसे व्यक्ति क्या प्राप्त कर सकता है, एक सही मनोभाव नहीं है; परंतु यदि 'उन्हें' इन चीजों के लिए खोजना सर्वथा वर्जित होता तो संसार में अधिकांशतः लोग 'उनकी' ओर बिल्कुल भी अभिमुख नहीं होते। मेरे विचार से यह इसलिए स्वीकार्य है ताकि वे एक आरंभ कर सकें – यदि उनमें श्रद्धा है तो उन्हें उस सब की प्राप्ति हो सकती है जिसकी वे माँग करते हैं और ऐसा करते रहने को अच्छी चीज मानते हैं, और तब **सहसा किसी दिन संयोगवश वे इस विचार पर आ सकते हैं कि अंततः यही एकमात्र करने योग्य वस्तु नहीं है, और भी श्रेष्ठतर तरीके व भाव हैं जिनके द्वारा व्यक्ति भगवान् की ओर उन्मुख हो सकता है।** यदि उन्हें वांछित वस्तु की प्राप्ति न हो और तब भी भगवान् में विश्वास करें तथा उनके पास जाएँ, तो यह दर्शाता है कि वे तैयार हो रहे हैं। हम इसे जो

अपरिपक्व हैं उनकी एक शिशु पाठशाला के रूप में मानें। किंतु निःसंदेह वह कोई आध्यात्मिक जीवन नहीं है, यह तो केवल एक प्रकार का साधारण धार्मिक दृष्टिकोण है। **क्योंकि आध्यात्मिक जीवन का नियम है देना न कि माँगना।** तथापि साधक भागवत् शक्ति से अपने स्वास्थ्य को बनाए रखने या इसे पुनः प्राप्त करने हेतु सहायता की माँग कर सकता है यदि वह ऐसा अपनी साधना के ही अंग के रूप में करे जिससे कि उसका शरीर आध्यात्मिक जीवन के अनुरूप एवं योग्य तथा भागवत् कार्य के लिए एक उपयुक्त यंत्र बन सके।''[२२]

''संपूर्ण जीवन ही प्रकृति का योग है। जिस योग की हम खोज करते हैं वह भी प्रकृति की सर्वांगीण क्रिया होनी चाहिए, तथा योगी एवं सामान्य मनुष्य के बीच का सारा भेद यह होगा कि योगी अपने भीतर अहं एवं विभाजन में तथा उनके द्वारा होती निम्न प्रकृति की संपूर्ण क्रिया को भगवान् एवं एकता में तथा उनके द्वारा होती उच्चतर प्रकृति की संपूर्ण क्रिया द्वारा प्रतिस्थापित करना चाहता है। ...**जिस पद्धति का हमें अनुसरण करना है ..वह है हमारी संपूर्ण सचेतन सत्ता को भगवान् के संपर्क तथा संबंध में लाना तथा उन्हें हमारी संपूर्ण सत्ता को उनकी अपनी सत्ता में रूपांतरित करने के लिए पुकारना। इस प्रकार एक अर्थ में भगवान् स्वयं, – हमारे अंदर विराजमान वास्तविक सत् पुरुष, – ही साधना के साधक तथा साथ-ही-साथ योग के स्वामी बन जाते हैं जिनके द्वारा निम्न व्यक्तित्व को एक दिव्य रूपांतरण का केंद्र तथा उसकी अपनी पूर्णता के यंत्र के रूप में उपयोग किया जाता है। वस्तुतः, 'तपस्' का दबाव, हमारे अंदर की चेतना-शक्ति दिव्य 'प्रकृति' के विचार में, उसका चिंतन करती हुई जो कि अपनी समग्र सत्ता में हम**

हैं, अपनी सिद्धि स्वयं चरितार्थ कर लेती है। ...मनोवैज्ञानिक तथ्य में यह पद्धति अहम् द्वारा अहम् से परे की सत्ता – जिसकी क्रियाएँ विशाल तथा अपरिमेय परंतु सर्वदा ही अपरिहार्य होती हैं – के प्रति अपने समस्त कार्यक्षेत्र तथा उसके सभी उपकरणों के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते समर्पण के रूप में अनुदित होती है। निश्चय ही **यह कोई सरल उपाय या सुगम साधना नहीं है। इसके लिए एक अतिविराट् श्रद्धा, परम् साहस और सब से बढ़कर एक अदम्य धैर्य की आवश्यकता होती है।** इसमें तीन अवस्थाएँ अंतर्निहित हैं जिनमें से केवल अंतिम ही पूर्णतया आनंदपूर्ण या द्रुत हो सकती है, – **अहम् भाव का भगवान् से संपर्क साधने का प्रयास, भागवत् क्रिया द्वारा समस्त निम्न प्रकृति की उच्चतर प्रकृति को स्वीकार करने तथा वही बन जाने के लिए विस्तृत, पूर्ण और इसीलिए श्रमसाध्य तैयारी, और अतंतः रूपांतरण।** परंतु वास्तव में भागवत् शक्ति, जो बहुधा अगोचर व आवरण के पीछे होती है, हमारी दुर्बलता के स्थान पर स्वयं को प्रतिस्थापित कर देती है तथा हमारी श्रद्धा, साहस एवं धैर्य के सभी अभावों में भी हमें अवलंबन प्रदान करती है। वह "अंधे को देखने की तथा लँगड़े को पर्वत लाँघने की सामर्थ्य प्रदान करती है।" बुद्धि तब एक ऐसे विधान के बारे में सचेत हो जाती है जो कल्याणकारी रूप से आग्रही हो तथा एक ऐसा सहायक हो जो थामे

"आध्यात्मिक चीजों की केवल एक ही तर्क-संगतता है कि जब भगवान् के लिए माँग हो, एक सच्ची पुकार हो तो अवश्य किसी न किसी दिन वह संसिद्ध होगी। केवल तभी जब कहीं पर एक प्रबल कपट हो, अन्य किसी चीज की लालसा हो – शक्ति, महत्त्वाकांक्षा, इत्यादि की – जो कि आंतरिक पुकार का प्रतिकार करती हो तो यह तर्क-संगतता लागू नहीं होती है।"[२३]

रखता है; हृदय सर्वेश्वर और मनुष्य के सखा अथवा जगज्जननी की चर्चा करता है जो सभी लड़खड़ाहटों में थामें रखती है। इसलिए **यह पथ अत्यंत कल्पनीय दुष्कर होते हुए भी साथ ही साथ अपने प्रयास तथा उद्देश्य की महत्ता की तुलना में सबसे सरल एवं सबसे अधिक सुनिश्चित भी है।**

जब उच्चतर प्रकृति निम्न प्रकृति पर सर्वांगीण रूप से क्रिया करती है तब उसकी इस क्रिया की तीन प्रमुख विशेषताएँ होती हैं। प्रथमतः यह योग की विशिष्ट पद्धतियों की भाँति किसी निश्चित प्रणाली या अनुक्रम के अनुसार कार्य नहीं करती अपितु एक प्रकार की मुक्त, फैली हुई होते हुए भी उत्तरोत्तर तीव्र एवं ऐसी उद्देश्यपूर्ण क्रिया के द्वारा कार्य करती है जिसका निर्धारण उस व्यक्ति-विशेष के स्वभाव द्वारा होता है जिसमें कि यह कार्य करती है, उस सहायक सामग्री द्वारा निर्धारण होता है जो उसकी प्रकृति प्रस्तुत करती है तथा उन व्यवधानों द्वारा जो वह पवित्रीकरण तथा पूर्णता की प्रक्रिया के रास्ते में लाती है। अतः, एक अर्थ में, इस मार्ग में हर एक व्यक्ति की स्वयं की अपनी योग की पद्धति होती है।...द्वितीयतः प्रक्रिया सर्वांगीण होने के कारण हमारी प्रकृति को उसी रूप में स्वीकार कर लेती है जिस रूप में वह हमारे पूर्व के विकास द्वारा संगठित हो चुकी है तथा किसी भी मूलभूत तत्त्व को अस्वीकार किये बिना वह सब कुछ को दिव्य रूप से परिवर्तित होने के लिए बाध्य करती है। हमारे अंदर की प्रत्येक वस्तु एक शक्तिशाली शिल्पी के हाथों द्वारा अधिगृहीत की जाती है और एक ऐसी वस्तु की स्पष्ट प्रतिमूर्ति में रूपांतरित कर दी जाती है जो कि हमारी निम्न प्रकृति अभी एक भ्रमित रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा करती है। उस नित-वर्धनशील अनुभव में

हम यह देखना प्रारंभ कर देते हैं कि यह निम्न अभिव्यक्ति किस प्रकार गठित हुई है तथा इसके अंदर का सभी कुछ देखने में भले ही कितना भी विकृत, तुच्छ या हीन क्यों न प्रतीत हो, परंतु दिव्य प्रकृति के सामंजस्य में किसी तत्त्व या क्रिया का भी कम या अधिक विकृत या अपूर्ण रूप है।...

तृतीयतः, हममें स्थित भागवत् 'शक्ति' समस्त जीवन को इस पूर्ण 'योग' के साधन के रूप में उपयोग करती है। जगत्-परिवेश के साथ हमारा प्रत्येक अनुभव तथा बाहरी संपर्क, भले वह कितना ही तुच्छ या कितना भी विनाशकारी क्यों न हो, इस कार्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है, और प्रत्येक आंतरिक अनुभव, यहाँ तक कि अत्यंत अपमानजनक पतन भी, पूर्णता के पथ पर एक पग बन जाता है। और हम अपने अंदर संसार में प्रयुक्त भगवान् की पद्धति का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, अंधकार में उनके प्रकाश का, दुर्बल तथा पतित के अंदर उनकी शक्ति का तथा जो कुछ दुःखद एवं कष्टकर है उसमें उनके आनंद का प्रयोजन अनुभव करते हैं। हम देखते हैं कि निम्न तथा उच्च दोनों प्रक्रियाओं में दिव्य प्रणाली समान ही है; केवल, एक में उसका अनुसरण प्रकृति में अवचेतन के माध्यम से अनिच्छापूर्वक तथा अस्पष्ट रूप से किया जाता है, वहीं दूसरी में वह द्रुत व आत्म-सचेतन हो जाती है तथा (मानव) यंत्र इसमें दिव्य स्वामी के हाथ को स्वीकार करता है। **समस्त जीवन प्रकृति का योग है जो कि अपने अंदर भगवान् को अभिव्यक्त करना चाहती है। योग उस सोपान को लक्षित करता है जहाँ यह प्रयत्न आत्म-सचेतन रूप से कार्य कर सकने में और, इसी कारण, व्यक्ति में सही पूर्णता प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। यह निम्न क्रम-विकास में बिखरी हुई तथा ढीले-ढाले रूप में मिश्रित गतिविधियों का एकत्रीकरण तथा एकाग्रीकरण है।''**[२४]

''ब्रह्माण्ड में जो कुछ होता है उस सब में, भगवान् अपनी शक्ति के माध्यम से सभी क्रिया के पीछे होते हैं किंतु वे अपनी योगमाया द्वारा आवृत रहते हैं तथा निम्न प्रकृति में जीव के अहंकार के माध्यम से कार्य करते हैं।

योग में भी भगवान् ही हैं जो साधक और साधना हैं, यह उन्हीं की शक्ति है जो अपने प्रकाश, बल, ज्ञान, चेतना और आनंद सहित आधार पर क्रिया करती रहती है और जब वह उसकी ओर खुल जाता है, तो वह उसमें उपरोक्त दिव्य शक्तियाँ उँड़ेलती है जो साधना को संभव बनाती हैं। परन्तु जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय रहती है तब तक साधक का व्यक्तिगत प्रयास आवश्यक होता है।

जो व्यक्तिगत प्रयत्न अपेक्षित है वह है अभीप्सा, परित्याग और समर्पण का त्रिविध श्रम –

एक अभीप्सा जो हो सतर्क, स्थिर, अनवरत – मन का संकल्प, हृदय की उत्कंठा, प्राण की स्वीकृति, भौतिक चेतना और प्रकृति को नमनीय बनाने का संकल्प;

निम्नतर प्रकृति की सभी सहज वृत्तियों का परित्याग – मन के विचारों, मान्यताओं, अभिरुचियों, अभ्यासों और संरचनाओं का त्याग ताकि सच्चे ज्ञान को एक नीरव मन में मुक्त स्थान प्राप्त हो सके, – प्राणिक प्रकृति की कामनाओं, माँगों, लालसाओं, संवेदनों, आवेगों, स्वार्थपरता, अभिमान, मद, काम, लोभ, द्वेष, ईर्ष्या, सत्य के प्रति विरोध आदि का त्याग ताकि एक शान्त, विशाल, सबल एवं समर्पित प्राण-सत्ता में ऊपर से सच्ची शक्ति एवं आनंद का प्रवाह हो, – भौतिक प्रकृति की मूढ़ता, संशय, अविश्वास, अंधता, जिद्दीपन, संकीर्णता, आलस्य, परिवर्तन

की अनिच्छा तथा तामसिकता का त्याग ताकि ज्योति, शक्ति और आनन्द की सच्ची स्थिरता निरंतर अधिकाधिक दिव्य होती हुई देह में स्वयं को प्रतिष्ठित कर सके;

हम जो कुछ हैं और जो कुछ हमारे पास है तथा चेतना के प्रत्येक स्तर का तथा प्रत्येक क्रिया का भगवान् तथा उनकी शक्ति के प्रति समर्पण।

***

जिस अनुपात में समर्पण और आत्म-निवेदन बढ़ते जाते हैं उसी अनुपात में साधक सचेतन होता जाता है कि भगवती शक्ति ही साधना कर रही हैं, अपने-आप को अधिकाधिक उसके अंदर ऊँड़ेल रही हैं, और उसके अंदर भावगत् प्रकृति की स्वाधीनता एवं पूर्णता स्थापित कर रही हैं। जितना अधिक यह सचेतन प्रक्रिया उसके निजी प्रयास का स्थान लेती जाएगी, उसकी प्रगति उतनी ही अधिक सच्ची एवं तीव्र होती जाएगी। परन्तु यह व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता का स्थान पूर्णतया तब तक नहीं ले सकती जब तक कि समर्पण और आत्मोत्सर्ग नख-शिख तक विशुद्ध और पूर्ण न हो जाएँ।

ध्यान रहे कि **एक तामसिक समर्पण, जो समर्पण की शर्तें पूरी करने से इन्कार करे और भगवान् को ही सब कुछ करने और स्वयं को सभी कठिनाइयों तथा संघर्षों से बचाने के लिए पुकारे, यह एक धोखा है और मुक्ति तथा पूर्णता की ओर नहीं ले जाता।**''[२५]

''इस योग की पहली प्रक्रिया है आत्मसमर्पण का संकल्प करना। **अपने समूचे हृदय एवं सारी शक्ति के साथ अपने-आपको**

भगवान् के हाथों में सौंप दो। कोई शर्त न रखो, किसी चीज की माँग मत करो, यहाँ तक कि योग में सिद्धि की भी नहीं, किसी भी चीज के लिए नहीं अतिरिक्त इसके कि तुम्हारे अंदर और तुम्हारे द्वारा भगवान् की ही इच्छा प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होती रहे। जो उनसे माँग करते हैं, भगवान् उन्हें माँगी हुई वस्तु प्रदान करते हैं, परंतु उन लोगों को जो अपने-आप को दे देते हैं तथा कुछ नहीं माँगते, उन्हें वह वे सब चीजें देते हैं, जिन्हें उन्होंने या तो माँगा होता या जिनकी उन्हें आवश्यकता हुई होती और उसके अतिरिक्त वे स्वयं अपने-आप को तथा अपने प्रेम के सहज वरदानों को भी प्रदान करते हैं। दूसरी प्रक्रिया है अलग होना तथा अपने अंदर घटित होती हुई भागवत् शक्ति की क्रिया को (साक्षीवत्) देखना। प्रायः इस (शक्ति की) क्रिया के साथ-ही साथ व्यवस्था में विक्षोभ एवं कष्ट उत्पन्न हो जाता है, इसलिए श्रद्धा का होना आवश्यक है, यद्यपि पूर्ण श्रद्धा का होना हमेशा एकाएक ही संभव नहीं होता; क्योंकि तुम्हारे भीतर जो भी अशुद्धि है, चाहे उसे प्रकट रूप से आश्रय दिया गया हो या वह भीतर अप्रकट रूप से छिपी हो, उसका शुरू में उमड़ पड़ना और तब तक पुनरावर्तित होते रहना संभावित है जब तक कि उसे आमूल ही नष्ट न कर दिया जाए, और इस अवस्था में संशय लगभग सर्वसामान्य अशुद्धि है। परंतु जब संशय का आक्रमण हो तब भी चुपचाप देखते रहो और उसके गुजर जाने की प्रतीक्षा करो, और यदि संभव हो तो ऐसे लोगों के सत्संग से स्वयं को लाभान्वित करो जो पहले ही मार्ग पर आगे बढ़ चुके हैं, परंतु जब इसका (सत्संग का) अभाव हो, तो भी योग के मूल-सिद्धांत, आत्म-समर्पण, को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो।''[२६]

''आध्यात्मिक विकास में एक समय ऐसा आता है जब हमें यह ज्ञात हो जाता है कि हमारा समस्त पुरुषार्थ और कर्म हमारे अंदर और हमारे चारों ओर विद्यमान एक महत्तर उपस्थिति के शांत और गूढ़ आग्रह के प्रति हमारी मानसिक एवं प्राणिक प्रतिक्रियाएँ मात्र ही हैं। हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा समस्त योग, हमारी अभीप्सा और हमारा उद्यम एक बृहत्तर सत्य के अशुद्ध या अर्धसत्य रूप हैं, क्योंकि ये मन के संसर्गों, माँगों, पूर्व निर्णयों, पक्षपातों द्वारा विकृत या कम-से-कम उनसे सीमाबद्ध होते हैं। हमारे विचार, अनुभव तथा प्रयास महत्तम चीजों की मानसिक प्रतिमूर्ति मात्र हैं जो कि हमारे अंदर स्थित उस शक्ति द्वारा अधिक पूर्ण, प्रत्यक्ष, स्वतंत्र एवं विशाल रूप से तथा वैश्विक एवं सनातन संकल्प के साथ अधिक समस्वरता से संपादित हो सकते हैं यदि हम अपने-आपको सर्वोच्च एवं परम् शक्ति एवं प्रज्ञा के हाथों में यंत्रवत् समर्पित कर सकें। वह शक्ति हमसे पृथक् नहीं है; वह हमारी अपनी ही आत्म-सत्ता है जो अन्य सब की आत्म-सत्ता के साथ एक है और साथ ही साथ एक विश्वातीत सत्ता और अंतस्थ पुरुष भी है। हमारा जीवन, हमारा कर्म इस महत्तम सत्ता में समाहित होकर व्यक्तिगत रूप से हमारा अपना नहीं रहेगा, जैसा कि अब हमें मानसिक पार्थक्य में यह प्रतीत होता है। यह एक अनंतता एवं अंतरंग अनिर्वचनीय उपस्थिति की एक बृहत् गति होगा; वह हमारे अंदर इस गहन वैश्विक आत्मा एवं इस विश्वातीत पुरुष की एक सतत् स्वयं-स्फूर्त्त रचना एवं प्राकट्य होगा। गीता यह इंगित करती है कि ऐसा पूर्ण रूप से हो, इसके लिए समर्पण निःशेष रूप से होना होगा; हमारे योग, हमारे जीवन तथा अंतः-सत्ता की अवस्था का निर्धारण मुक्त रूप से इस

जीवंत 'अनंत' के द्वारा होना होगा, न कि इस या उस धर्म या किसी भी धर्म के ऊपर हमारे मन के पूर्वाग्रह द्वारा। तब योग के दिव्य ईश्वर, 'योगेश्वरः कृष्णः' स्वयं हमारे योग को अपने हाथों में लेंगे और हमें हमारी उच्चतम संभव पूर्णता तक ऊपर उठा ले जाएँगे, किसी बाह्य या मानसिक आदर्श या बंधनकारी नियम की पूर्णता तक नहीं अपितु एक विशाल और व्यापक तथा मन के लिए अपरिमेय पूर्णता तक। वह एक ऐसी पूर्णता होगी जो सर्वदर्शी प्रज्ञा के द्वारा पहले तो निःसंदेह मानव स्वभाव के समग्र सत्य के अनुसार, किन्तु बाद में उस महत्तर वस्तु के समग्र सत्य के अनुसार विकसित होगी जिसकी ओर हमारा स्वभाव उद्घाटित होगा, – (वह महत्तर वस्तु है) एक असीम, अमर, मुक्त तथा सर्वरूपांतरकारी आत्मा एवं शक्ति तथा एक दिव्य और अनंत प्रकृति की ज्योति और दीप्ति।

सब कुछ उस रूपांतरण के आवश्यक द्रव्य के रूप में समर्पित कर देना होगा। एक सर्वज्ञ चेतना हमारे ज्ञान और अज्ञान, हमारे सत्य और असत्य को अपने हाथ में लेकर उनके अपर्याप्त रूपों को दूर कर देगी, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य', और सब कुछ को अपनी अनंत ज्योति में रूपांतरित कर देगी। एक सर्वसमर्थ शक्ति हमारे पुण्य और पाप, उचित और अनुचित, बल और दुर्बलता को अपने हाथ में लेकर उनके उलझे हुए रूपों को सुलझा देगी, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' और उन सबको अपनी विश्वातीत पवित्रता एवं सार्वभौम शुभ एवं अमोघ शक्ति में रूपांतरित कर देगी। एक अनिर्वचनीय आनंद हमारे क्षुद्र हर्ष और शोक, हमारे संघर्षरत सुख और दुःख को अपने हाथ में लेकर उनके विसंगत एवं अपूर्ण गतिच्छंदों को दूर कर देगा, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य', और उन सब को अपने विश्वातीत एवं विश्वगत अकल्पनीय आनंद में रूपांतरित कर देगा। समस्त

योग जो कुछ कर सकते हैं वह सब और उससे भी अधिक किया जाएगा; परंतु यह एक महत्तर दृष्टि से किया जाएगा, जो कुछ कोई मानव गुरु, संत या ज्ञानी प्रदान कर सके उसकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्तर प्रज्ञा एवं सत्य के साथ किया जाएगा। जिस आंतरिक आध्यात्मिक स्थिति तक यह परम् योग हमें ले जायेगा, वह जो कुछ इस संसार में है उस सब से ऊपर होगी और फिर भी इस जगत् या अन्य लोकों की सभी वस्तुओं को अपने अंदर समाविष्ट करेगी, परंतु बिना सीमित हुए व बिना बंधन के सभी का आध्यात्मिक रूपांतरण करते हुए ... तथा **मुक्त आत्मा एवं अप्रभावित प्रकृति पर कोई भी बंधनकारी प्रभाव नहीं पड़ेगा, न ही इस या उस निम्नतर धर्म के अंदर ऐसा रूढ़िकरण होगा जिससे बाहर न निकला जा सके।**''[२७]

4. योग-साधना के अभ्यास एवं उसकी प्रणाली से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों की परिभाषाएँ

१. बाहर निकलने का रास्ता

''मनुष्य अपने-आप को नहीं जानते और उन्होंने अपनी सत्ता के भिन्न-भिन्न भागों में भेद करना नहीं सीखा है; क्योंकि प्रायः सभी भागों को मिला-जुलाकर वे उन्हें ''मन'' ही मान बैठते हैं; क्योंकि केवल मानसिक बोध एवं समझ के द्वारा ही वे उन्हें जानते या अनुभव करते हैं; अतएव वे (मनुष्य) स्वयं अपनी अवस्थाओं और क्रियाओं को नहीं समझते, या यदि कुछ समझते भी हैं तो केवल सतही रूप से। अपनी प्रकृति की अतिविशाल जटिलता के विषय में सचेतन होना, उसे चलानेवाली विभिन्न शक्तियों को देखना तथा उन पर नियंत्रणकारी ज्ञान का संयम स्थापित करना योग की आधारशिला का एक अंग है। **हम लोग अनेक भागों से बने हैं जिनमें से प्रत्येक भाग हमारी चेतना, हमारे विचार, संकल्प, संवेदन, अनुभव, कर्म आदि की संपूर्ण गतिविधि में कुछ-न-कुछ अपना योगदान करता है, परन्तु हम इनके उद्‌गम तथा इन आवेगों के क्रम को नहीं देख पाते; हम उनके ऊपरी स्तर पर होने वाले केवल मिले-जुले और अस्पष्ट परिणामों को ही जानते हैं जिन पर हम अधिक से अधिक एक अस्थिर व्यवस्था भले ही लाद सकते हैं।**

इस सब का समाधान केवल सत्ता के उन भागों से आ सकता है जो पहले से ही ज्योति की ओर मुड़े हुए हैं। इससे निकलने का रास्ता है ऊपर से भागवत् चेतना के प्रकाश का आह्वान करना, चैत्य पुरुष को आगे ले आना तथा अभीप्सा की ऐसी अग्नि को प्रज्ज्वलित करना जो आध्यात्मिक रूप से बाह्य मन को जागृत करेगी तथा प्राण-सत्ता को प्रज्ज्वलित कर देगी।''[२८]

२. चेतना

''चेतना एक मूलभूत चीज है, अस्तित्व की एक मूलभूत वस्तु – यह चेतना की शक्ति, गति व स्पंदन ही है जो ब्रह्माण्ड की तथा उसमें जो कुछ है उस सब की सृष्टि करती है – केवल विराट्-ब्रह्माण्ड ही नहीं अपितु सूक्ष्म-ब्रह्माण्ड भी और कुछ नहीं, केवल चेतना का स्वयं का प्रबंधन है। उदाहरणार्थ, जब चेतना अपनी गति में या यूं कहें अपनी गति के किसी विशेष दबाव में अपने आप को किसी क्रिया में भुला देती है तब वह ऊपर से देखने में 'अचेतन' शक्ति बन जाती है; जब वह अपने-आप को आकृति में विस्मृत कर देती है तो वह विद्युत्कण, परमाणु, या भौतिक वस्तु बन जाती है। वस्तुतः तब भी वह चेतना ही है जो ऊर्जा के अंदर कार्य करती है और रूप तथा उसके विकास का निर्धारण करती है। जब वह अपने आपको शनैः-शनैः, क्रमिक विकास के रूप में जड़ तत्त्व से मुक्त करना चाहती है, परन्तु आकार के रूप में रहते हुए, तब वह जीवन, पशु या मानव के रूप में उदय होती है और वह अपनी निवर्तन (involution) की अवस्था में से और भी आगे विकसित हो सकती है तथा मात्र मनुष्य से बढ़कर भी कोई चीज बन सकती है।''[२९]

३. सच्चिदानंद

''सच्चिदानंद त्रिविध भाव से युक्त 'एकमेव' है। परम् में ये तीनों तीन नहीं अपितु एक हैं – सत् है चित्, चित् है आनंद, और इस तरह वे अविभाज्य हैं, अविभाज्य ही नहीं अपितु एक दूसरे से इतने एकरूप हैं कि वे बिल्कुल पृथक् नहीं हैं। अभिव्यक्ति के श्रेष्ठतर लोकों में वे त्रिविध बन जाते हैं – तथा अविभेद्य होते हैं, कोई एक अधिक प्रधान बनाया जा सकता है जो दूसरों का आधार बन सकता है या उनका नेतृत्व कर सकता है। नीचे निम्नतर लोकों में यद्यपि वे अपने गुह्य सत्य में ऐसे न

होते हुए भी दिखने में विभेद्य बन जाते हैं, और उनमें से कोई एक बाह्य क्रियारूप में दूसरों के बिना रह सकता है जिससे कि वे हमें निश्चेतन या एक दुःखमय अस्तित्व या आनंदरहित चेतना जान पड़ती हैं। वास्तव में, व्यवहार में उनके इस पार्थक्य के बिना दुःख-दर्द, अज्ञान, मिथ्यात्व, मृत्यु तथा जिसे हम निश्चेतन कहते हैं, अपने-आप को अभिव्यक्त ही न कर पाते – जड़तत्त्व की विश्वव्यापी निश्चेतना के भीतर से एक सीमित और दुःखमय चेतना का यह क्रमविकास संभव ही न हुआ होता।''[३०]

४. अतिमानस – दिव्य मन

''सच्चिदानंद और निम्नतर सृष्टि के मध्य में अतिमानस है। एकमात्र यही भागवत् चेतना के आत्म-निर्धारक सत्य को धारण करता है और सत्य-सृष्टि के लिए आवश्यक है।''[३१]

५. केंद्रीय सत्ता

''हमारे योग में 'केंद्रीय-सत्ता' शब्दावली का प्रयोग प्रायः हमारे अंदर विद्यमान भगवान् के उस अंश के लिए होता है जो हमारे बाकी सभी अंगों को अवलंबन प्रदान करता है और मृत्यु तथा जन्म में से होते हुए भी अपना अस्तित्व बनाए रखता है। इस केंद्रीय सत्ता के दो रूप हैं – ऊपर, यह जीवात्मन् है, हमारा सच्चा स्वरूप है जिसके विषय में हम तब सचेतन होते हैं जब हमें उच्चतर आत्मज्ञान प्राप्त होता है, – नीचे, यह चैत्य पुरुष है जो मन, शरीर और प्राण के पीछे स्थित है। जीवात्मन् जीवन में होने वाली अभिव्यक्ति से ऊपर है तथा उसका संचालन करता है; चैत्य पुरुष जीवन में होने वाली अभिव्यक्ति के पीछे रहता और उसे अवलम्बन प्रदान करता है।''[३२]

६. आत्मा

''आत्मा अपने स्वरूप में या तो विश्वातीत या वैश्विक है (परमात्मा, आत्मा)। जब यह व्यष्टिभाव ग्रहण करता है और केंद्रीय पुरुष बन जाता है तो फिर यह जीवात्मा होता है।''[३३]

७. अन्तरात्मा

''केंद्रीय सत्ता का प्रतिनिधि यह अंतरात्मा भगवान् की एक चिनगारी है जो प्रकृति के अंदर समस्त वैयक्तिक जीवन को अवलम्बन प्रदान करता है; चैत्य पुरुष इसी अंतरात्मा का एक सचेतन रूप होता है जो क्रमविकास के अंदर वर्द्धित होता रहता है – उस अनवरत प्रक्रिया में जो सर्वप्रथम जड़तत्त्व में प्राण तथा प्राण में मन का विकास करती है, जब तक कि अंततः मन अधिमानस में तथा अधिमानस अतिमानसिक सत्य में विकसित न हो जाय। अंतरात्मा इन स्तरों के द्वारा होते हुए विकास में प्रकृति को सहारा देता है परन्तु वह स्वयं इन सब चीजों में से कोई चीज नहीं है।''[३४]

८. स्पिरिट

''आत्मन् (स्पिरिट) मन से ऊपर की चेतना है, आत्मन् या आत्मतत्त्व है जो सर्वदा भगवान् के साथ एकत्व में बना रहता है – एक आध्यात्मिक चेतना वह चेतना है जो सदा भगवान् के साथ एकत्व में रहती है या कम-से-कम उनके संपर्क में रहती है।

चैत्य-तत्त्व भगवान् से आई हुई एक चिनगारी है जो सभी वस्तुओं में है और जैसे-जैसे व्यक्ति विकास करता है वैसे-वैसे यह भी उसमें वर्द्धित होती है तथा चैत्य-पुरुष, अंतरात्म-पुरुष के रूप में अभिव्यक्त

होती है जो सर्वदा भगवान् तथा सत्य को खोजती है और जब भी, जहाँ भी वह भगवान् या सत्य के सम्मुख आती है उनको प्रत्युत्तर देती है।

***

अंग्रेजी शब्द 'स्पिरिट' (Spirit) का अर्थ है आत्मन्, ब्रह्मन्, सारभूत भगवान्।''[३५]

९. चैत्य पुरुष

''हमारा चैत्य भाग एक ऐसा तत्त्व है जो सीधे भगवान् से आता है और उनके संस्पर्श में होता है। अपने मूलरूप में यह एक ऐसा केंद्र होता है जो उन दिव्य संभावनाओं से परिपूर्ण होता है जो इस मन, प्राण तथा शरीर की निम्न त्रिविध अभिव्यक्ति को अवलम्बन प्रदान करता है। यह दिव्य तत्त्व समस्त प्राणियों में होता है, किंतु यह सामान्य चेतना के पीछे छिपा रहता है; तथा आरंभ में विकसित नहीं हुआ होता और यदि विकसित भी हुआ हो तब भी, सदैव या प्रायः अग्र भाग में नहीं रहता; यह अपने उपकरणों के सहारे, जहाँ तक कि उनकी अपूर्णताएँ उसे प्रकट होने दें, एवं उनकी सीमाओं के अधीन, जहाँ तक संभव हो, अपने-आप को अभिव्यक्त करता है।''[३६]

***

''यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति की रचना उन असंख्य संभावनाओं में से किसी एक के, देश और काल में, प्रक्षेपण के द्वारा होती है जो समस्त अभिव्यक्ति के परम् स्रोत में गुप्त रूप से विद्यमान हैं जो कि एकमेव तथा विश्वव्यापी चेतना के द्वारा व्यक्ति के नियम या सत्य के रूप में मूर्त्त रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार उत्तरोत्तर विकास करते हुए उसकी आत्मा या चैत्य पुरुष बन जाता है।...इस आंतरात्मिक

उपस्थिति के द्वारा ही एक व्यक्तिगत सत्ता का सत्य उसके तथा उसके जीवन की परिस्थितियों के संपर्क में आता है। अधिकांश व्यक्तियों में यह उपस्थिति एक प्रकार से अज्ञात और अपरिचित रूप में पर्दे के पीछे से कार्य करती है; पर कुछ में यह बोधगम्य होती है तथा इसकी क्रिया पहचानी जा सकती है; बहुत ही विरले लोगों में यह उपस्थिति प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती है और इसकी क्रिया पूर्ण रूप से प्रभावशाली होती है। ऐसे लोग ही एक अपने ही ढंग की निश्चितता और दृढ़-विश्वास के साथ जीवन में आगे बढ़ते हैं; ये अपने भाग्य के स्वामी होते हैं।''[३७]

***

''चैत्य वह पुरुष है जो दिव्य उपस्थिति के द्वारा सुसंगठित हो रहा है और इसका संबंध पृथ्वी से है – मैं यहाँ ब्रह्माण्ड की बात नहीं, केवल पृथ्वी की बात कह रही हूँ; एकमात्र पृथ्वी पर ही तुम चैत्य पुरुष पाओगे। शेष ब्रह्माण्ड सर्वथा भिन्न रूप से निर्मित हुआ है... **उदाहरण के लिए, अधिमानस की सत्ताओं में, तथा उच्चतर क्षेत्रों की सभी सत्ताओं में कोई चैत्य-पुरुष नहीं होता – 'देवदूतों' में चैत्य पुरुष नहीं होता। एकमात्र पृथ्वी पर ही चैत्य जीवन प्रारम्भ होता है, और ठीक यही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा भगवान् ने भौतिक जीवन को अपने दिव्य मूल से पुनः मिलने की आवश्यकता के प्रति जागृत किया है। चैत्य के बिना, जड़तत्त्व कभी अपनी निश्चेतना से जागृत न हुआ होता, उसने कभी अपने मूलस्रोत के जीवन या अपने आध्यात्मिक जीवन के लिये अभीप्सा न की होती।** अतएव मानव सत्ता के अंदर विद्यमान चैत्य पुरुष आध्यात्मिक अभीप्सा की ही अभिव्यक्ति है... मुझे लगता है कि चैत्य पुरुष के इस प्रकार के आंतरिक संकल्प के बिना मनुष्य सर्वथा हतभाग्य, निस्तेज होते, उनका पूरी तरह से पशुवत् जीवन होता। अभीप्सा की

प्रत्येक चमक सदा ही चैत्य के प्रभाव की अभिव्यक्ति होती है। बिना चैत्य की उपस्थिति के, बिना चैत्य के प्रभाव के कभी किसी प्रकार की प्रगति का बोध न होता अथवा कभी किसी प्रकार की प्रगति का संकल्प न होता।''[३८]

***

''वे (चैत्य पुरुष तथा हृदय में स्थित भागवत् उपस्थिति) सर्वथा भिन्न चीजें हैं। चैत्य पुरुष मनुष्य की व्यष्टिभावापन्न अंतरात्म-सत्ता है। यह भगवान् नहीं है, यद्यपि यह भगवान् से आता है और भगवान् की ओर विकसित होता है।''[३९]

***

''आत्मा वह नहीं है जो चैत्य है – आत्मा वह पुरुष है जो सबमें एक है, स्थिर, विस्तृत, सदा शान्तिमय, सर्वदा-मुक्त है। चैत्य पुरुष हमारे भीतर का वह अंतरात्मा है जो जीवन का अनुभव करता है तथा विकसनशील मन, प्राण और शरीर के साथ-साथ विकसित होता है। चैत्य पुरुष प्राण या शरीर की तरह दुःख नहीं भोगता, उसके अंदर पीड़ा या अतिशय वेदना या निराशा नहीं होती; परंतु उसमें एक चैत्य शोक होता है जो इन सब चीजों से भिन्न है। उसमें तीव्र पुकार की एक प्रकार की शांत मधुर उदासी होती है जिसे वह तब अनुभव करता है जब चीजें भगवान् के विरुद्ध जाती हैं...''[४०]

१०. भगवान्

''हम सदा उस सबको 'भगवान्' कहते हैं जो हम हैं तो नहीं, पर होना चाहते हैं। जो कुछ हमें अनंत रूप से श्रेष्ठ प्रतीत होता है, हमने जो कुछ किया है केवल उससे ही नहीं, अपितु उस सबसे भी जो

हम अनुभव करते हैं कि हम कर सकते हैं, जो कुछ हमारी कल्पना तथा हमारी वर्तमान संभावनाओं, दोनों ही को अतिक्रम करता है, उस सबको हम 'भगवान्' कहते हैं।

मैं यह बात व्यंग्य के रूप में नहीं कह रही, अपितु इस कारण कह रही हूँ कि मुझे पूरा विश्वास है कि यदि हम कुछ हजार वर्ष पीछे जाएँ, जब लोग भगवान् की बात करते थे — यदि कभी वे भगवान् की बात करते थे जैसा कि मैं मानती हूँ — वे संभवतः उस अवस्था की चर्चा करते थे जो 'अधिमानस' के देवताओं की अवस्था से मिलती-जुलती थी : और अब 'अधिमानस' के उन देवताओं की रूप-छवि, जिन्होंने स्पष्ट ही, पृथ्वी पर बहुत दीर्घ काल तक राज्य किया है और यहाँ बहुत-सी चीजें निर्मित की हैं, आज जिस भावी 'अतिमानस' की हम संकल्पना करते हैं उसके सामने हमें बहुत अधिक निम्नतर प्रतीत होती है। और ठीक यही 'अतिमानस', जिसे हम वर्तमान में भगवान् कहते हैं और पृथ्वी पर उतार लाने की चेष्टा करते हैं, संभवतः आज से कुछ हजार या लाखों वर्ष बाद हमें ऐसा ही लगेगा जैसा कि आज 'अधिमानस' लग रहा है।

और मुझे पूरा विश्वास है कि अभिव्यक्ति के अंदर, अर्थात् अपनी आत्म-अभिव्यक्ति के अंदर भगवान् क्रमवर्द्धमान हैं। अभिव्यक्ति से बाहर वे कुछ ऐसी चीज हैं जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते; परंतु जैसे ही वे इस प्रकार की सतत् संभूति के अंदर अभिव्यक्त होते हैं, वे क्रमशः अधिकाधिक अपने-आपको प्रकट करते हैं, मानो वह अंतिम समय के लिये अपनी 'सत्ता' के अधिक सुन्दर अंशों को बचाकर रखते हों।

जैसे-जैसे जगत् प्रगति करता जाता है, जो कुछ वे जगत् में प्रकट करते हैं (वैसे-वैसे) वह ऐसा होता जाता है जिसे हम अधिकाधिक दिव्य कह सकते हैं।

अतएव श्रीअरविंद ने उन लोगों को समझाने के लिये 'अतिमानस' शब्द का प्रयोग किया है जो बाहरी और विकसनशील चेतना में हैं और जिन्हें कुछ भान है कि पार्थिव जगत् कैसे विकसित हुआ है – उन्हें यह समझाने के लिये कि यह चीज, जो इस सबसे परे होगी, और मानव सृष्टि, मनुष्य, जिसे वे सर्वदा मनोमय सत्ता कहते हैं, से अधिक श्रेष्ठ होगी – यह चीज जो आने वाली है वह मानव से महत्तर एवं श्रेयस्कर होगी; और इसलिये वे इसे अतिमानस कहते हैं ताकि लोग उन्हें समझ सकें। परंतु हम यह भी कह सकते हैं कि यह चीज उस सबसे अधिक दिव्य है जो पहले अभिव्यक्त हो चुका है।

और ऐसा वे स्वयं कहते हैं कि वह अनंत है, उसकी कोई सीमा नहीं है।* कहने का अर्थ है, इसमें सर्वदा ही एक उत्तरोत्तर बढ़ती पूर्णता रहेगी; और जो चीज आज हमें अपूर्ण प्रतीत होती है वह अवश्य ही वह पूर्णता रही होगी जिसके लिये पार्थिव इतिहास के कुछ युगों ने अभीप्सा की होगी।

ऐसा कोई कारण नहीं कि यह बंद हो जाय। यदि यह बंद हो जाय तो यह समाप्त हो जायेगा। यह एक नया प्रलय होगा।''[४१]

११. श्रद्धा

''श्रद्धा – अंग्रेजी शब्द faith इसके भाव को प्रकट करने में अपर्याप्त है – वस्तुतः यह परमात्मा से प्राप्त एक प्रभाव है और इसका प्रकाश हमारी अतिमानसिक सत्ता से आने वाला संदेश है जो

** ''एक अर्थ में, एक ऐसे विकास में जो कदाचित् अनंत ही हो, कहीं भी किसी (निश्चित) लक्ष्य की बात करना त्रुटि होगी।''[४३]*

निम्न प्रकृति को उसके क्षुद्र वर्तमान से निकलकर महान् आत्म-संभवन एवं आत्म-अतिक्रमण की ओर उठने के लिए पुकारती है।''[४२]

***

''पूर्ण श्रद्धा का अर्थ है हमारी समग्र सत्ता का उस सत्य को स्वीकार करना जिसका उसे साक्षात्कार हुआ है या जो उसकी स्वीकृति के लिये उसके सम्मुख प्रस्तुत किया गया है, और ऐसी श्रद्धा की केंद्रीय क्रिया है – अस्तित्वमान रहने, चरितार्थ करने और वही बन जाने के अपने संकल्प में आत्मा और पदार्थों-विषयक अपने विचार में, तथा अपने ज्ञान में अन्तरात्मा की श्रद्धा। बुद्धि का विश्वास, हृदय की सहमति, हस्तगत करने तथा चरितार्थ करने के लिये प्राणिक मन की कामना इस केंद्रीय श्रद्धा के बाह्य रूप हैं। यह आत्मा की श्रद्धा, अपने किसी-ना-किसी रूप में, हमारी सत्ता की क्रिया के लिये अनिवार्य है और इसके बिना मनुष्य अपने जीवन में एक पग भी नहीं चल सकता, अबतक अप्राप्त पूर्णता की ओर कोई कदम आगे बढ़ना तो दूर रहा। यह इतनी केंद्रीय और आवश्यक वस्तु है कि इसके विषय में गीता का यह कहना उचित ही है कि किसी मनुष्य की जो भी श्रद्धा होती है, वही वह होता है, *यो यच्छ्रद्धः स एव सः*, और, इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि जिस वस्तु को अपने अन्दर सम्भव के रूप में देखने और उसके लिये प्रयत्न करने की श्रद्धा उसमें होती है उस वस्तु का वह सर्जन कर सकता है तथा वही बन भी सकता है।''[४४]

''...श्रद्धा आत्मा की गति है जिसका ज्ञान सहज तथा सीधा-सटीक है। यदि सम्पूर्ण जगत् भी निषेध करे या विरोध में

हजारों प्रमाण प्रस्तुत करे तो भी वह एक ऐसे अंतर्ज्ञान तथा प्रत्यक्ष बोध द्वारा, एक तादात्म्य से प्राप्त बोध द्वारा जानता है जो सभी कुछ का सामना कर सकता है।''[४५]

***

''...(श्रद्धा है) मन के अज्ञान, संशयों, दुर्बलताओं, अनिश्चितताओं के मध्य आत्मा से आया गुह्य प्रकाश एवं शक्ति। श्रद्धा मनुष्य के लिए अपरिहार्य है, क्योंकि इसके बिना वह 'अज्ञात' के अन्दर से अपनी यात्रा में अग्रसर नहीं हो सकता, परंतु इसे थोपा नहीं जाना चाहिए, इसे मुक्त बोध या आंतरिक सत्ता के अनिवार्य निर्देश के रूप में आना चाहिए।''[४६]

***

''श्रद्धा अनुभव पर निर्भर नहीं करती; यह कोई ऐसी चीज है जो अनुभव के पूर्व से ही रहती है। जब व्यक्ति योग प्रारंभ करता है, तो ऐसा वह प्रायः अनुभव की शक्ति पर नहीं अपितु श्रद्धा की शक्ति पर करता है। ऐसा केवल योग और आध्यात्मिक जीवन के विषय में ही नहीं अपितु सामान्य जीवन के बारे में भी है। सभी कर्मप्रधान लोग, खोजकर्त्ता, आविष्कारक, ज्ञान के प्रकाशक श्रद्धा से ही आरंभ करते हैं और जब तक प्रमाण नहीं मिल जाता या कार्य पूरा नहीं हो जाता, तब तक वे निराशा, असफलता, प्रमाणों के अभाव व अस्वीकृति के उपरान्त भी प्रयास जारी रखते हैं, और ऐसा वे अपने अंदर किसी ऐसी चीज के कारण करते हैं जो उनसे कहती है कि यही सत्य है, यही वह चीज है जिसका अनुसरण करना होगा और जिसे सिद्ध करना होगा। रामकृष्ण से जब पूछा गया कि क्या अंध श्रद्धा रखना अनुचित नहीं है तब उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि अंध श्रद्धा ही रखने योग्य है, क्योंकि श्रद्धा या तो अंधी होती है या फिर

वह श्रद्धा नहीं अपितु कुछ और ही होती है – जैसे तर्कसंगत अनुमान, प्रमाणित मत या परखा हुआ ज्ञान।

श्रद्धा अंतरात्मा का किसी ऐसी चीज के विषय में साक्ष्य है जो अभी तक अभिव्यक्त, संसिद्ध या अनुभूत नहीं हुई है, परंतु फिर भी जिसे हमारे अंदर का 'ज्ञाता' सभी लक्षणों के अभाव में भी सत्य या अनन्य रूप से अनुसरण करने तथा प्राप्त करने योग्य अनुभव करता है। हमारे भीतर की यह चीज तब भी बनी रह सकती है जब मन में कोई दृढ़ विश्वास न हो, तब भी जब प्राण संघर्ष, विद्रोह और इंकार करता हो। ऐसा कौन है जो योगाभ्यास करता हो और जिसके ऐसे दौर न आते हों, निराशा, असफलता, अविश्वास और अंधकार के लंबे दौर? परंतु कोई ऐसी चीज है जो उसे थामे रखती है और उसकी अपनी (सामर्थ्य-असामर्थ्य) के बावजूद भी बनी रहती है, क्योंकि उसे यह अनुभव होता है कि जिस चीज का उसने अनुसरण किया वह सही थी, तथा वह ऐसा अनुभव ही नहीं करता अपितु जानता है। योग की मूलभूत श्रद्धा, जो कि अंतरात्मा में अंतर्निहित होती है, यह है कि भगवान् हैं और भगवान् ही एकमात्र अनुकरणीय विषय हैं – जीवन में कोई भी चीज उनकी तुलना में प्राप्त करने योग्य नहीं है। जब तक किसी मनुष्य में ऐसी श्रद्धा है, तब तक वह आध्यात्मिक जीवन के लिए निर्दिष्ट है और मैं कहूँगा कि यदि उसकी प्रकृति विघ्न-बाधाओं से पूर्ण और अस्वीकृतियों एवं कठिनाइयों से ठसाठस भरी हुई हो तो भी, और चाहे उसे अनेक वर्षों तक संघर्ष करना पड़े तो भी वह आध्यात्मिक जीवन में सफलता पाने के लिए पूर्वनिर्दिष्ट है।''[४७]

***

''श्रद्धा तामसिक तथा निष्प्रभावी हो सकती है, उदाहरणार्थ, ''मैं विश्वास करता हूँ कि श्रीमाँ सब कुछ करेंगी, इसलिए मैं कुछ नहीं

करूँगा। जब वे चाहेंगी मुझे रूपांतरित कर देंगी।'' यह सक्रिय नहीं अपितु निष्क्रिय एवं जड़ श्रद्धा है।''[४८]

***

''श्रद्धा (*Faith*) – एक सक्रिय संपूर्ण विश्वास और स्वीकृति।

विश्वास (*Belief*) – केवल एक बौद्धिक स्वीकृति।

दृढ़ विश्वास (*Conviction*) – अच्छे कारणों की प्रतीति पर आधारित बौद्धिक विश्वास।

निर्भरता (*Reliance*) – किसी चीज के लिए किसी दूसरे पर, भरोसे के आधार पर, आश्रित होना।

भरोसा (*Trust*) – दूसरे की सहायता मिलने की सुनिश्चित आशा का भाव तथा उसके वचन, चरित्र, आदि पर निर्भरता।

विश्वासित (*Confidence*) – भरोसे के साथ-ही-साथ सुरक्षा का भाव।''[४९]

१२. प्रेम और भक्ति

''प्रेम हमारे अंदर अनेक प्रकार से उदित होता है; यह 'दिव्य-प्रेमी' के सौंदर्य के प्रति जागृति के रूप में, उनकी किसी आदर्श मुखछवि और मूर्ति के दर्शन के द्वारा, जगत् में पदार्थों के सहस्रों रूपों के पीछे से हमारे लिए उनके स्व-विषयक गुह्य संकेतों के द्वारा, हृदय की मन्द या आकस्मिक आवश्यकता के कारण, आत्मा की एक अव्यक्त प्यास के कारण, इस आभास के द्वारा कि हमारे सन्निकट कोई हमें प्रेमपूर्वक खींच रहा है या पीछा कर रहा है अथवा इस भाव के द्वारा कि कोई आनंदमय और सर्वसुंदर सत्ता है जिसे हमें अवश्य खोजना चाहिए।''[५०]

***

''दिव्य प्रेम के आनंद की संपूर्ण चरम एकता और संपूर्ण शाश्वत विविधता का वर्णन करना मानवोच्चारित भाषा के लिए संभव नहीं है। हमारे उच्चतर और निम्नतर अंग दोनों इससे आप्लावित होते हैं, मन और प्राण भी उतने ही जितनी कि आत्मा : यहाँ तक कि भौतिक शरीर भी इस हर्ष में अपना भाग ग्रहण करता है, स्पर्श अनुभव करता है, अपने सभी अंगों, रगों और नस-नाड़ियों में सोम-सुरा, अमृत, के प्रवाह से परिपूर्ण हो जाता है। प्रेम तथा आनंद सत्ता के चरम शब्द हैं, रहस्यों के रहस्य और गुह्यातिगुह्य हैं।''[५१]

***

''जो प्रेम भगवान् की ओर लगाया जाता है वह साधारण प्राणिक भाव नहीं होना चाहिए जिसे मनुष्य उस नाम से पुकारते हैं; क्योंकि वह प्रेम नहीं है अपितु केवल प्राणिक कामना, हस्तगत करने की सहजवृत्ति, अधिगत करने एवं एकाधिकार जमाने का आवेग है। यही नहीं कि यह दिव्य प्रेम नहीं है अपितु उसे योग में अत्यल्प मात्रा में भी मिलने नहीं देना चाहिये। भगवान् के लिए सच्चा प्रेम है एक आत्म-दान – माँग से मुक्त, आज्ञाकारिता और समर्पण से पूर्ण; यह कोई माँग नहीं करता, कोई शर्त नहीं थोपता, कोई सौदेबाजी नहीं करता, ईर्ष्या, अभिमान या क्रोध की उग्रताओं में लिप्त नहीं होता क्योंकि ये चीजें उसकी संरचना मात्र में ही नहीं होती। प्रतिदान में भगवती माता भी अपने-आप को दे देती हैं, परन्तु मुक्त रूप से – और यह चीज अपने-आपको आंतरिक दान के रूप में प्रकट करती है – तुम्हारे मन, तुम्हारे प्राण, तुम्हारी भौतिक चेतना में उनकी उपस्थिति, दिव्य-प्रकृति में तुम्हारा पुनर्निर्माण करती उनकी शक्ति, तुम्हारी सत्ता की सभी गतियों को हाथ में लेकर उन्हें पूर्णता एवं कृतार्थता की ओर निर्देशित करती है,

उनका प्रेम तुम्हें आवृत करते हुए अपनी गोद में उठा भगवान् की ओर ले जाता है।''[५२]

***

''भक्ति का स्वभाव है हमसे महत्तर सत्ता के प्रति आराधना, पूजा, आत्म-दान; प्रेम का स्वभाव है सामीप्य तथा ऐक्य का भाव या उसकी खोज। आत्म-दान दोनों की ही विशिष्टता है; योग में दोनों ही आवश्यक हैं और प्रत्येक जब एक दूसरे को सहारा देता है तब अपनी पूर्ण शक्ति प्राप्त करता है।''[५३]

***

''भक्ति कोई अनुभूति नहीं है, यह हृदय तथा अंतरात्मा की एक अवस्था है। यह वह अवस्था है जो चैत्य पुरुष के जागृत होने तथा प्रधानता प्राप्त करने पर आती है।''[५४]

***

''हृदय का भगवान् में आनंद लेना ही सच्ची भक्ति का सम्पूर्ण घटक और सार-मर्म है।''[५५]

१३. समर्पण

''समर्पण से हमारा अभिप्राय है... एक सहज आत्मदान, अपने-आप को पूर्ण-रूप से भगवान् को, एक ऐसी उच्चतर चेतना को दे देना जिसके तुम एक अंग हो। समर्पण क्षीण नहीं करेगा अपितु संवर्धित करेगा; तुम्हारे व्यक्तित्व का ह्रास नहीं करेगा, उसे दुर्बल नहीं करेगा, न ही उसका नाश करेगा, अपितु उसे सुदृढ़ एवं वर्धित करेगा। समर्पण का अर्थ है ऐसा दान जो दान के संपूर्ण आनंद के साथ व

मुक्त-भाव से और पूर्ण-रूप से दिया जाए; इसमें त्याग का कोई भाव नहीं होता। यदि तुममें जरा-सा भी ऐसा भाव हो कि तुम त्याग कर रहे हो तो फिर यह समर्पण नहीं रह जाता। क्योंकि इसका अर्थ है कि तुम स्वयं को (पूर्ण दान से) बचाए रखते हो या कि तुम अनिच्छा से, कष्ट से व श्रम-पूर्वक देने की चेष्टा कर रहे हो तथा तुम्हें दान का आनंद नहीं मिलता और कदाचित् यह भावना भी नहीं होती कि तुम दे रहे हो। जब तुम कोई भी चीज सत्ता के संकोचन के भाव से करते हो तो यह निश्चयपूर्वक जान लो कि तुम उस काम को गलत तरीके से कर रहे हो। सच्चा समर्पण तुम्हें विशाल बनाता है; यह तुम्हारी क्षमता वर्धित करता है; यह तुम्हारी गुणवत्ता एवं परिमाण में वह महत्तर ऊँचाई प्रदान करता है जो तुम अपने-आप प्राप्त नहीं कर सकते थे।''[५६]

***

''तुम्हारे लिये उसी हद तक अच्छे-से-अच्छा होता है जिस हद तक तुम समर्पण करते हो। हो सकता है कि यह तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी पसंद या कामना के अनुरूप न हो, क्योंकि ये चीजें अंधी होती हैं : यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अच्छे-से-अच्छा होता है, तुम्हारी प्रगति के लिये, तुम्हारी उन्नति के लिये, तुम्हारे आध्यात्मिक विकास और तुम्हारे सच्चे जीवन के लिये अच्छे-से-अच्छा होता है। हमेशा ऐसा ही होता है। तुम्हें यह श्रद्धा रखनी ही होगी, क्योंकि श्रद्धा भगवान् में विश्वास की और भगवान् के प्रति तुम्हारे पूर्ण आत्म-दान की अभिव्यक्ति है। और जब तुम यह आत्म-दान करते हो, तो वह एक सर्वथा अद्भुत चीज होती है। यह एक तथ्य है, ये कोरे शब्द नहीं हैं, तुम समझ रहे हो न, यह एक तथ्य है। जब तुम पीछे की ओर देखो तो तुम अनुभव करोगे कि अनेक प्रकार की चीजें, जिन्हें तुम उस समय नहीं समझ पाये थे जब वे तुम्हारे साथ घटित हुईं थीं, वे ठीक वही थीं जिनका होना आवश्यक था ताकि वे तुम्हें प्रगति

करने के लिये बाधित करें। सदा ही, बिना अपवाद के। हमारा अंधापन ही है जो हमें यह देखने से रोकता है।''[५७]

१४. अभीप्सा एवं कामना अथवा माँग

''**अभीप्सा में एक ऐसी चीज होती है जिसे मैं निःस्वार्थ ज्योति कह सकती हूँ जो कामना के अंदर नहीं होती। तुम्हारी अभीप्सा स्वयं की ओर पीछे लौटना नहीं है – कामना में सदा ही स्वयं अपनी ओर लौटना होता है।** शुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, सर्वदा ही अभीप्सा एक आत्मदान है, जबकि कामना सदा एक ऐसी चीज होती है जिसे मनुष्य अपनी ओर खींचता है; अभीप्सा एक ऐसी चीज है जो अपने-आपको दे देती है, आवश्यक रूप से विचार के रूप में नहीं अपितु क्रिया में, स्पंदन में, प्राणिक आवेग में।

सच्ची अभीप्सा मस्तिष्क से नहीं आती; जब यह किसी विचार के द्वारा भी निर्मित होती है तो भी यह एक लौ की तरह हृदय से फूट पड़ती है। ...यही अभीप्सा का यथार्थ स्वरूप है: तुम उसको आकार देने का प्रयास नहीं करते, वह एक तैयार लौ की तरह तुम्हारे अंदर से धधक उठती है। यदि शब्द होते भी हैं (कभी-कभी कोई भी शब्द नहीं होते), तो उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता: तुम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द नहीं रख सकते, प्रत्येक शब्द सर्वथा उपयुक्त ही होता है। जब अभीप्सा को आकार दिया जाता है तो वह रूप स्पष्ट रूप से, निरपेक्ष रूप से, परिवर्तन की किसी संभावना के बिना दिया जाता है। और यह सदा ही कोई ऐसी चीज होती है, जो एकाएक उमड़ पड़ती और अपने-आपका उत्सर्ग कर देती है, जबकि माँग का स्वरूपमात्र ही होता है चीजों को अपनी ओर खींचना।

अभीप्सायुक्त प्रेम और कामनायुक्त प्रेम के बीच मूलभूत भेद यह है कि अभीप्सायुक्त प्रेम अपने-आपको पूर्णतः दे डालता है और बदले में कुछ नहीं चाहता – वह किसी चीज की माँग नहीं करता; जबकि कामनायुक्त प्रेम अपने को यथासंभव कम-से-कम देता है और यथासंभव अधिक-से-अधिक माँगता है, वह वस्तुओं को अपनी ओर खींचता है और सर्वदा माँग करता रहता है।''[५८]

१५. त्याग

''पुस्तकों में त्याग के बारे में बहुत कुछ कहा गया है – कि तुम्हें सम्पत्तियों को त्यागना चाहिए, आसक्तियों को त्यागना चाहिए, इच्छाओं को त्यागना चाहिए। परंतु मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि **जब तक तुम्हें किसी भी चीज का त्याग करना पड़ता है तब तक तुम इस मार्ग पर नहीं हो; क्योंकि जब तक तुम्हें चीजें, जैसी वे हैं वैसी, पूर्ण रूप से घृणास्पद नहीं लगें और तुम्हें उन्हें त्यागने के लिए प्रयास करना पड़ता हो तब तक तुम अतिमानसिक सिद्धि के लिए तैयार नहीं हो।**''[५९]

***

''**त्याग का यह विचार केवल एक स्व-केंद्रित चेतना में ही उठ सकता है।** स्वाभाविक रूप से, लोग – वे जिन्हें मैं सर्वथा असभ्य बोलती हूँ – चीजों से आसक्त होते हैं: जब उनके पास कुछ होता है, तो वे उसे जाने देना नहीं चाहते। मुझे यह बहुत ही बचकाना लगता है!... जब उन्हें किसी चीज से दूर होना हो, तो यह उन्हें पीड़ा पहुँचाता है! क्योंकि वे अपनी चीजों के साथ स्वयं का तादात्म्य कर लेते हैं। किंतु यह बचपना है।''[६०]

१६. सत्य

'' 'सत्य' मानसिक शब्दावली में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। हाँ, ऐसा ही है। और सभी प्रश्न मानसिक प्रश्न हैं।

सत्य को सूत्रबद्ध नहीं किया जा सकता, इसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती – इसे 'जीना' होता है।

और जो समग्र रूप से 'सत्य' को अर्पित है, जो 'सत्य' को जीना चाहता है, 'सत्य' की सेवा में रहना चाहता है, वह हर क्षण यह जान लेगा कि क्या करना होगाः यह एक तरह की अन्तः-प्रेरणा या अन्तः-प्रकाश होगा (अधिकांशतः शब्दों के बिना, किंतु कभी-कभी शब्दों में भी अभिव्यक्त होगा) जो तुम्हें हर क्षण यह जानने में सहायता करेगा कि उस क्षण का सत्य क्या है।... 'सत्य' ऐसा कुछ है जो जीवन्त, गतिमान्, हर क्षण अपने-आपको अभिव्यक्त करता है, और परम् प्रभु तक पहुँचने का यह *एक* मार्ग है। परम् प्रभु तक पहुँचने का हर एक का अपना-अपना मार्ग होता है। कदाचित् कुछ ऐसे हैं जो एक साथ सभी दिशाओं से उन तक पहुँचने में समर्थ हैं, किंतु कुछ हैं जो 'प्रेम' द्वारा पहुँचते हैं, कुछ 'शक्ति' द्वारा पहुँचते हैं, कुछ चेतना द्वारा पहुँचते हैं और कुछ 'सत्य' द्वारा पहुँचते हैं। किंतु इनमें से हर एक पक्ष स्वयं परम् प्रभु के जितना ही पूर्ण, अनिवार्य और अपरिभाष्य है। परम् प्रभु अपनी क्रिया में पूर्ण, अनुल्लंघ्य, अपरिभाष्य और अग्राह्य हैं और उनके गुणों का भी समान ही स्वरूप है।''[६१]

१७. साधना, तपस्या, आराधना, ध्यान

''साधना योगाभ्यास है। तपस्या है साधना का फल पाने तथा निम्न प्रकृति को जीतने के लिए संकल्पशक्ति का संकेंद्रण। आराधना (का तात्पर्य) है भगवान् की पूजा करना, भगवान् के प्रति प्रेम,

आत्म-समर्पण एवं अभीप्सा, उनका नाम जपना तथा प्रार्थना करना। ध्यान है चेतना की आंतरिक एकाग्रता, मनन-चिंतन तथा अंदर समाधि में चले जाना। ध्यान, तपस्या और आराधना सभी साधना के अंग हैं।''[६२]

१८. रहस्यवाद एवं गुह्यवाद

''रहस्यवाद उस (शक्ति) के साथ कम या अधिक भावात्मक संबंध है जो हमें एक दिव्य शक्ति प्रतीत होती है – (अर्थात्) किसी अदृश्य चीज के साथ जो भगवान् है या जिसे हम भगवान् के रूप में समझते हैं, उसके साथ एक प्रकार का बहुत ही संवेगात्मक, भावात्मक और बहुत ही गहन संबंध। वह है रहस्यवाद।

गुह्यवाद ठीक वही है जो श्रीअरविन्द ने बताया है : वह है अदृश्य शक्तियों का ज्ञान और उन्हें संभालने की शक्ति। वह एक विज्ञान है। सर्वथा एक विज्ञान है। मैं सदा ही गुह्यवाद की तुलना रसायन-शास्त्र से किया करती हूँ; क्योंकि यह उसी प्रकार का ज्ञान है जैसे भौतिक चीजों के लिये रसायन का ज्ञान होता है। यह अदृश्य शक्तियों का, उनके विविध स्पंदनों का, उनके परस्पर संबंधों का, उन्हें मिला-जुलाकर जो संगठन बनाए जा सकते हैं उनका, और उस शक्ति का ज्ञान है जिसका हम उन पर प्रयोग कर सकते हैं। यह पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है; और इसे एक विज्ञान के रूप में ही सीखना चाहिये; अर्थात्, हम गुह्यवाद का अभ्यास किसी भावप्रधान या धुँधली और अस्पष्ट चीज के रूप में नहीं कर सकते हैं।''[६३]

१९. अनुभव, सिद्धि, साक्षात्कार

''अनुभव एक ऐसा शब्द है जो योग में घटित होने वाली लगभग सभी बातों को समाविष्ट करता है; केवल जब कोई (अनुभव) स्थिर हो जाता है तब वह अनुभव न रहकर सिद्धि का एक अंग बन जाता

है; उदाहरणार्थ, जब शांति आती-जाती रहती है तो यह एक अनुभव है – जब वह स्थिर हो जाती है, और फिर नहीं जाती, तब वह एक सिद्धि है। साक्षात्कार भिन्न वस्तु है – जब तुम किसी चीज की अभीप्सा कर रहे हों और वह तुम्हारे सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाए; उदाहरण के लिए तुम्हारे अंदर एक विचार है कि भगवान् सबमें विद्यमान हैं, परंतु यह मात्र एक विचार, एक विश्वास ही है; पर जब तुम सबके भीतर भगवान् का अनुभव या दर्शन करने लगो, तब वह साक्षात्कार बन जाता है।''[६४]

***

''ऐसा कोई नियम नहीं कि कोई भावना अनुभव नहीं हो सकती; अनुभव सभी प्रकार के होते हैं और वे चेतना में हर प्रकार का रूप धारण कर लेते हैं। **जब चेतना किसी भी आध्यात्मिक, चैत्य या यहाँ तक कि गुह्य चीज के अनुभव से गुजरती है, उसे देखती या आभास करती है तो यह (योग के तकनीकी अर्थ में) अनुभव होता है,** क्योंकि निःसंदेह बहुत से अनुभव होते हैं जो इस प्रकार के नहीं होते। स्वयं भावनाएँ भी अनेक प्रकार की होती हैं। भावना शब्द प्रायः किसी संवेग के लिए प्रयुक्त होता है, और चैत्य अथवा आध्यात्मिक श्रेणी के संवेग-भावावेग हो सकते हैं जिन्हें यौगिक अनुभवों में गिना जाता है, जैसे कि शुद्ध भक्ति की तरंग अथवा भगवान् के प्रति प्रेम उमड़ना। अंग्रेजी शब्द फीलिंग का अर्थ किसी अनुभूत वस्तु का स्पर्श भी होता है – भले ही यह स्पर्श प्राण में, अथवा चैत्य या चेतना के अपने सारतत्त्व में ही हो। मैंने प्रायः देखा है कि मानसिक स्पर्श भी, जब वह बहुत स्पष्ट हो, फीलिंग कहलाता है। यदि तुम इन्हें तथा इन जैसी अन्य फीलिंग्स को फीलिंग कहकर रद्द कर दो और उन्हें अनुभव न कहो तब तो अनुभवों के लिये बहुत थोड़ा स्थान रह जाएगा। भावप्रधान अनुभूति (feeling) और

अंतर्दर्शन आध्यात्मिक अनुभव के मुख्य प्रकार हैं। व्यक्ति ब्रह्म को सर्वत्र देखता और अनुभव करता है; वह एक शक्ति को अपने में प्रवेश करते या अपने से बाहर निकलते देखता है। वह अपने अंदर अथवा चारों ओर भगवान् की उपस्थिति को देखता अथवा महसूस करता है, वह ज्योति के एवं शांति अथवा आनंद के अवरोहण को भी देखता तथा महसूस करता है। यदि तुम इन सबको फीलिंगमात्र कहकर त्याग दो तो तुम जिनको हम अनुभव कहते हैं उनके अधिकतम भाग को रद्द कर दोगे। अब, हम चेतना के तत्त्व, या चेतना की अवस्था में भी एक परिवर्तन महसूस करते हैं, हम शुद्ध विस्तार के एक (सूक्ष्म) क्षेत्र में अपने को फैलता हुआ पाते हैं और शरीर को उस विस्तार में छोटी-सी वस्तु महसूस करते हैं (ऐसा देखा भी जा सकता है); हम अपनी हृत्-चेतना को संकीर्ण होने के बदले विस्तृत, कठोर होने के बदले कोमल, और धूमिल होने के बदले ज्योतिर्मय होते महसूस करते हैं, ऐसे ही मस्तिष्क-चेतना, प्राण और शरीर-चेतना को भी। इसी प्रकार की सहस्रों चीजें हम महसूस करते हैं, भला हम उनको अनुभव क्यों न कहें? निःसंदेह यह एक अंतर्दर्शन, एक आंतरिक भाव, सूक्ष्म-अनुभूतिरूप होते हैं, जो कि शीत पवन, पत्थर अथवा अन्य किसी वस्तु की फीलिंग के समान भौतिक नहीं हैं, परंतु ज्यों-ज्यों अंतः-चेतना गहन बनती जाती है ये कम स्पष्ट अथवा कम मूर्त्त नहीं अपितु अधिक स्पष्ट अथवा मूर्त्त होते जाते हैं।''[६५]

***

''जब तुम प्रकाश को देखते हो तो इसे अंतर्दर्शन कहते हैं। जब तुम प्रकाश को अपने अंदर प्रवेश करते हुए महसूस करते हो तो यह अनुभव होता है, जब प्रकाश तुम्हारे अंदर आकर स्थिर हो जाता है और आलोक और ज्ञान को लाता है तो यह साक्षात्कार कहलाता है। परंतु सामान्यतया अंतर्दर्शन भी अनुभव कहलाते हैं।''[६६]

२०. प्रकाश, अंतर्दर्शन एवं वाणियाँ

''जब अंतर्दर्शन विशुद्ध और वाणियाँ यथार्थ हों तो उनका अपना स्थान होता है। स्वभावतया ही वे साक्षात्कार न होकर (योग) पथ पर एक पग मात्र होते हैं, और मनुष्य को उनमें बद्ध नहीं हो जाना चाहिए और न ही उन सभी को उपयोगी समझ बैठना चाहिये।''[६७]

***

''अंतर्दर्शन तथा अनुभव (विशेषकर अनुभव) सब ठीक हैं परंतु तुम प्रत्येक अंतर्दर्शन से यह आशा नहीं कर सकते कि वह अपने आप को समानांतर भौतिक तथ्य के रूप में प्रकट कर दे। कुछ ऐसा करते हैं जबकि अधिकांश ऐसा नहीं करते, अन्य सर्वथा अतिभौतिक जगत् के होते हैं और ऐसी यथार्थताओं, संभावनाओं अथवा प्रवृत्तियों को सूचित करते हैं जिनका मूल-स्थान वहाँ (अतिभौतिक जगत् में) होता है। ये जीवन को किस परिमाण में प्रभावित करेंगे या इसमें (जीवन में) अपने आप को चरितार्थ करेंगे या ऐसा ये कर भी पाएँगे या नहीं, यह अंतर्दर्शन के स्वरूप पर, उसमें निहित शक्ति पर और कभी-कभी द्रष्टा की संकल्पशक्ति या उसकी रचनात्मक शक्ति पर निर्भर करता है।

लोग अंतर्दर्शनों को इसलिए महत्त्व देते हैं क्योंकि वे अन्य जगतों अथवा आंतरिक जगतों से तथा जो कुछ वहाँ है उस सबसे संपर्क साधने की एक कुंजी हैं (अन्य कुंजियाँ भी हैं), और ये ऐसी अपरिमित भव्यताओं के क्षेत्र हैं जो भौतिक जगत् से – जैसा कि वह वर्तमान में है – अत्यंत उत्कृष्ट हैं। व्यक्ति विशालतर मुक्ततर आत्म-तत्त्व में तथा विशालतर अधिक नमनीय जगत् में प्रवेश करता है; निःसंदेह अलग-अलग अंतर्दर्शन केवल संपर्क प्रदान करते हैं, न कि एक वास्तविक प्रवेश, किंतु

जैसे-जैसे अंतर्दर्शन की शक्ति अन्य सूक्ष्म इंद्रियों (श्रवण, स्पर्श, आदि) की शक्ति समेत विस्तारित होती है, तो यह अवश्य प्रवेश प्रदान करती है। इन चीजों का प्रभाव केवल कल्पनाशक्ति (जैसे किसी कवि या कलाकार की, यद्यपि वह खूब प्रबल हो सकती है) के प्रभाव के समान नहीं होता अपितु यदि इनका पूर्ण अनुशीलन किया जाए तो वह सत्ता एवं चेतना तथा इसके अनुभव की समृद्धता एवं इसके विस्तार-क्षेत्र का सतत् विकास साधित कर देता है।

लोग अंतर्दर्शन को इससे भी एक महत्तर कारण से महत्त्व देते हैं: यह अपने रूपों एवं शक्तियों से युक्त भगवान् से प्रथम संपर्क प्रदान कर सकता है; यह भगवान् के साथ मेल का, मार्गदर्शक दिव्य-वाणी के श्रवण का, हृदय में दिव्य-छवि एवं दिव्य-उपस्थिति का, और अन्य बहुत-सी चीजों का समारंभ हो सकता है जो मनुष्य को वह प्रदान करते हैं जो वह धर्म या योग द्वारा खोजता है।

इसके अतिरिक्त, अंतर्दर्शन इसलिए भी मूल्यवान् है क्योंकि वैश्व चेतना के जगतों अथवा स्तरों से भिन्न व्यक्ति की अपनी सत्ता तथा चेतना के आंतर-जगतों की यह प्रायः पहली कुंजी होता है। यौगिक-अनुभव प्रायः ललाट में एक तीसरे नेत्र (भौहों के बीच में स्थित अंतर्दर्शन के केंद्र) के खुलने से अथवा एक प्रकार की सूक्ष्म दृष्टि के आरंभ एवं प्रसार से शुरू होते हैं जो शुरू में भले ही महत्त्वहीन प्रतीत हों पर ये गहनतर अनुभवों की प्रवेश-भूमिका होते हैं। जब ऐसा न भी हो, – क्योंकि व्यक्ति सीधे भी अनुभव तक जा सकता है, – तो यह बाद में अनुभव के एक सशक्त सहायक के रूप में प्रकट हो सकता है; यह उन संकेतों से पूर्ण हो सकता है जो आत्म-ज्ञान या वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के ज्ञान में सहायक होते हैं; यह सत्यवक्ता होकर पूर्व-दर्शन, पूर्वाभास एवं अन्य अल्प-महत्त्व की

पर योगी के लिए अत्यंत उपयोगी क्षमताओं के प्रकट होने का कारण बन सकता है। संक्षेप में, अंतर्दर्शन परम् अनिवार्य न होते हुए भी एक महान् साधन है।

किंतु, जैसा मैंने बताया, अंतर्दर्शन नाना-प्रकार के होते हैं ठीक उसी तरह जैसे स्वप्न नाना प्रकार के होते हैं, और व्यक्ति को विवेक तथा भिन्न मूल्यों तथा चीजों की समझ विकसित करनी होगी और यह जानना होगा कि इन शक्तियों को कैसे समझा तथा प्रयोग में लाया जाए।''[६८]

***

''ये प्रकाश और अंतर्दर्शन भ्रांतियाँ नहीं हैं। ये आंतरिक दृष्टि के खुलने के सूचक हैं जिसका केंद्र ललाट पर भौंहों के बीच में है। सर्वप्रथम प्रायः रोशनियाँ ही दिखाई देती हैं। रोशनियाँ सत्ता के विभिन्न स्तरों से संबंध रखने वाली सूक्ष्म शक्तियों की क्रिया या गतिविधि को सूचित करती हैं – शक्ति का स्वरूप रोशनी के रंग और उसकी विशेष आभा पर आधारित होता है।''[६९]

***

''अंतर्दर्शन एवं वाणियाँ श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए नहीं होतीं, वे केवल तभी प्रभावी होती हैं जब व्यक्ति में पहले से ही श्रद्धा हो।''[७०]

***

''एक पूरी की पूरी शृंखला या अनेक असीम शृंखलाएँ हैं जिनके विषय में हम या तो समाधि में या निद्रा में अथवा उस अंतर्मुख अवस्था में, जिसे हम भूल से निद्रा कहते हैं, या केवल और सहज रूप से जागृत स्थिति में सचेतन हो सकते हैं – नवीन प्रचलित अमरीकी मुहावरे का प्रयोग करें तो – जिन्हें हम देख सकते हैं, सुन सकते हैं, अनुभव कर

सकते हैं, सूँघ सकते हैं, स्पर्श कर सकते हैं, और जिनके साथ मानसिक रूप से संपर्क में आ सकते हैं। अति-भौतिक वस्तुओं के आंतरिक संवेदन की या उन्हें ऐसा बाह्य रूप प्रदान करने की क्षमता या देन जिससे वे आँख, कान और स्पर्शेन्द्रिय के लिये भौतिक पदार्थों के समान ही देखने, सुनने और स्पर्श करने योग्य हो जाये – कोई मानसिक तरंग या असामान्य वस्तु नहीं है; यह एक विश्वव्यापी क्षमता है जो मनुष्यमात्र में विद्यमान है, पर अधिकतर लोगों में सोई पड़ी है, कुछ में बहुत कम या बीच-बीच में सक्रिय, किन्हीं में ऐसी मानों अकस्मात् सक्रिय होनेवाली और बिरले ही लोगों में बार-बार या सामान्य रूप से सक्रिय होती है। पर जैसे कोई भी व्यक्ति थोड़े प्रशिक्षण के बाद विज्ञान सीख सकता है और ऐसी बातें कर सकता है जो उसके पुरखों को चमत्कार लग सकती हैं, लगभग इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति यदि चाहे तो थोड़ी एकाग्रता और प्रशिक्षण द्वारा अतिभौतिक दर्शन की शक्ति को विकसित कर सकता है। जब कोई व्यक्ति प्रारंभ करता है तो यह शक्ति, निरपवाद रूप से तो नहीं किंतु प्रायः, – क्योंकि कुछ लोगों को इसकी प्राप्ति कठिन लगती है, – प्रसुप्त पड़ी हुई शक्तियों में सर्वप्रथम बाहर आकर अपने को बहुधा साधक के किसी यत्न, इरादे या पूर्वज्ञान के बिना अभिव्यक्त करती है।''[७१]

२१. प्रतीक

''प्रतीक, जैसा मैं समझता हूँ, किसी एक स्तर पर कोई रूप है जो किसी अन्य स्तर के सत्य को दर्शाता है। उदाहरणार्थ, एक ध्वज किसी राष्ट्र का प्रतीक होता है... वैसे साधारणतया सभी रूप प्रतीक होते हैं। हमारा यह शरीर हमारी वास्तविक सत्ता का प्रतीक है, और सब कुछ किसी उच्चतर यथार्थता का प्रतीक होता है। प्रतीक, हालाँकि विभिन्न प्रकार के होते हैं :

१. पारंपरिक प्रतीक, जैसे कि वैदिक ऋषियों ने अपने परिवेश में विद्यमान पदार्थों से गढ़े थे। गाय प्रकाश का प्रतीक थी, क्योंकि एक ही शब्द 'गो' रश्मि और गाय दोनों का द्योतक था, और क्योंकि गाय उनकी सबसे मूल्यवान् संपत्ति थी, जो उनके जीवन का भरण-पोषण करती थी और जिसके चुराए अथवा छिपाये जाने का सदैव ही भय बना रहता था। किंतु एक बार सृष्ट होने के बाद इस प्रकार का प्रतीक सजीव हो उठता है। ऋषियों ने उसे प्राणवंत किया और वह उनकी संसिद्धि का एक अंग बन गया। वह उनके अंतर्दर्शन में आध्यात्मिक प्रकाश की प्रतिमा के रूप में प्रकट हुआ। अश्व भी उनके प्रिय प्रतीकों में से एक था और एक अधिक सुगमता से परिस्थिति-स्वरूप अपने को ढालने में सक्षम था, चूँकि उसकी ऊर्जा एवं शक्ति सुस्पष्ट थे।

२. जिन्हें हम जीवन-प्रतीक कह सकते हैं, जो कृत्रिम रूप से नहीं चुने जाते या जिनकी सचेतन रूप से सोच-विचार कर मानसिक रूप से व्याख्या नहीं की जाती, वरन् जो दैनन्दिन जीवन से तथा उन परिस्थितियों से स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं जो हमारे जीवन के साधारण मार्ग को प्रभावित करती हैं। प्राचीन लोगों के लिए पर्वत योग-पथ का प्रतीक था – स्तर के ऊपर स्तर, शिखर के ऊपर शिखर। एक यात्रा कुछ-कुछ ऐसा ही विचार व्यक्त करती थी जिसमें नदियों को पार करना, छिपे हुए शत्रुओं – पशु तथा मानव दोनों ही – का सामना करना निहित था। आजकल मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि हम लोग योग की तुलना मोटर की सवारी या रेलयात्रा से करेंगे।

३. वे प्रतीक जिनमें स्वयं की अंतर्निहित उपयुक्तता तथा शक्ति होती है। आकाश अथवा आकाशीय विस्तार अनंत सर्वव्यापी सनातन

ब्रह्म का प्रतीक है। किसी भी राष्ट्रीयता में यह समान ही अर्थ प्रकट करेगा। इसी प्रकार सूर्य सार्वभौमिक रूप से अतिमानसिक ज्योति, दिव्य प्रज्ञान का अर्थ व्यक्त करता है।

४. मानसिक प्रतीक, जिनके उदाहरण हैं अंक अथवा वर्ण। एक बार इन्हें स्वीकार करने के बाद ये भी क्रियाशील हो जाते हैं और उपयोगी भी हो सकते हैं। इसी प्रकार ज्यामितीय आकृतियों का विभिन्न रूपों में अर्थ लगाया गया है। मेरे अनुभव में वर्गाकार अतिमानस का प्रतीक है। मैं कह नहीं सकता कि ऐसा कैसे हुआ। संभव है, मेरे मन में आने से पहले किसी व्यक्ति या किसी शक्ति ने इसे बनाया हो। त्रिकोण के भी विभिन्न अर्थ बताए जाते हैं। एक स्थिति में यह तीन निम्न लोकों का प्रतीक हो सकता है और दूसरी में तीन उच्चतर लोकों का हो सकता हैः इस प्रकार दोनों एक ही प्रतीक में सम्मिलित किये जा सकते हैं। प्राचीन लोग अंकों के विषय में भी इसी प्रकार के अनुमानों में रत रहना पसंद करते थे परंतु उनकी पद्धतियाँ अधिकांशतः मानसिक थीं। यह निःसंदेह सत्य है कि अतिमानसिक यथार्थताओं का अस्तित्व है जिन्हें हम मानसिक सूत्रों में रूपांतरित कर लेते हैं जैसे कि कर्म, चैत्य विकास आदि। किंतु वे, एक प्रकार से, असीम यथार्थताएँ हैं जो इन प्रतीकात्मक रूपों द्वारा सीमित नहीं की जा सकतीं, यद्यपि वे कुछ-कुछ इनके द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती हैं, वे अन्य प्रतीकों द्वारा भी उतनी ही अच्छी तरह व्यक्त की जा सकती हैं, और एक ही प्रतीक अनेक भिन्न विचारों को व्यक्त कर सकता है।''[७२]

२२. अज्ञान, मिथ्यात्व एवं विरोधी सत्ताएँ

''अज्ञान का अर्थ है अविद्या, भेदात्मक चेतना तथा अहंमन्य मन और प्राण जो उससे निकलते हैं और साथ ही वह सब जो

भेदात्मक चेतना तथा अहंमन्य मन तथा प्राण के लिए स्वाभाविक है। ...सृष्टि की इस चेतना में सब कुछ या तो सीमित है या फिर पूर्ण प्रकाश से पृथक् होने के कारण विकृत है; जिस सत्य को वह देखती है वह भी केवल अर्ध-ज्ञान होता है। इसलिये इसे 'अज्ञान' कहा जाता है।

वहीं दूसरी ओर, मिथ्यात्व उपरोक्त अविद्या नहीं है, अपितु उसका एक चरम परिणाम है। यह एक आसुरिक शक्ति के द्वारा सृष्ट होता है जो इस सृष्टि में हस्तक्षेप करती है और न केवल 'सत्य' से पृथक् है – जिसके कारण ज्ञान में सीमित और भ्रांति की ओर खुली हुई है – अपितु 'सत्य' से विद्रोह में है या सत्य को केवल विकृत करने के लिए अधिकृत करने की प्रवृत्ति रखती है। यह शक्ति, अंध आसुरिक शक्ति या राक्षसिक माया, अपनी स्वयं की विकृत चेतना को सच्चे ज्ञान के रूप में अथवा अपनी दुराग्रही विकृतियों या 'सत्य' के विपर्ययों को वस्तुओं के सत्य के रूप में सामने रखती है। इस (स्वयं) विकृत और (दूसरों को) विकृत करने वाली चेतना की शक्तियों तथा व्यक्तित्वों को हम विरोधी सत्ताएँ, विरोधी शक्तियाँ कहते हैं।''[७३]

***

''यह तथ्य आदिकाल से भारत की तरह ही यूरोप तथा अफ्रीका के सभी योगियों और गुह्यवेत्ताओं को सदैव विदित रहा है कि जहाँ कहीं योग या यज्ञ का अनुष्ठान होता है, वहाँ विरोधी शक्तियाँ किसी भी साधन द्वारा उसे रोकने के लिए आ जुटती हैं। यह ज्ञात रहा है कि एक निम्न प्रकृति है और एक उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति है – कि वे भिन्न दिशाओं में खींचती हैं और प्रथमतया निम्नतर प्रकृति प्रबलतम होती है और बाद में उच्चतर। यह सर्वविदित है कि विरोधी शक्तियाँ निम्न प्रकृति

की गतियों का लाभ उठाकर उनके द्वारा सिद्धि को बिगाड़ने, नष्ट-भ्रष्ट करने या उसे विलंबित करने की चेष्टा करती हैं। यह उपनिषदों जैसे पुराने काल से कहा जाता रहा है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्); बाद में ईसा मसीह ने कहा ''दुर्गम वह मार्ग तथा संकरा वह द्वार है जिसके द्वारा व्यक्ति स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करता है'' और यह भी कि ''बहुत से पुकारे जाते हैं पर चुने विरले ही जाते हैं'' – इन सब उक्तियों का कारण ये कठिनाइयाँ ही हैं। परंतु यह सदा ही सर्वविदित रहा है कि जो लोग हृदय से सच्चे एवं निष्ठावान् हैं और ऐसे ही बने रहते हैं तथा भगवान् पर आश्रित हैं वे सभी कठिनाइयों, ठोकरों या पतनों के उपरांत भी लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।''[७४]

***

''मनुष्यों में निम्न प्रकृति का सामान्य प्रतिरोध और विरोधी शक्तियों की क्रिया दो सर्वथा भिन्न चीजें हैं। पहली स्वाभाविक और सबमें होती है, दूसरी एक अ-मानवीय लोक का हस्तक्षेप है। परंतु यह हस्तक्षेप दो रूपों में हो सकता है। (१) विरोधी सत्ताएँ निम्न प्रकृति की शक्तियों का उपयोग करती हैं और उन पर दबाव डालकर प्रतिरोध पैदा कराती हैं जहाँ वे अन्यथा निष्क्रिय होतीं तथा जहाँ अन्यथा प्रतिरोध हल्का या मद्धिम होता वहाँ उसे प्रचंड एवं उग्र बनाती हैं और जब वे उग्र हों तो उनकी उग्रता को अतिरंजित कर देती हैं। इसके अतिरिक्त, जब विरोधी शक्तियाँ इन (निम्न) शक्तियों पर क्रिया करती हैं तब उनमें एक अनिष्टकारी चतुराई, एक सुनियोजित योजना तथा संयोजन होता है जो कि शक्तियों के सामान्य प्रतिरोध में देखने को नहीं मिलता। (२) वे कभी-कभी अपनी स्वयं की शक्तियों के साथ आक्रमण कर देती हैं। जब

ऐसा होता है तो प्रायः (व्यक्ति का) कुछ समय के लिए अधिग्रहण हो जाता है या कम से कम उस पर ऐसा अप्रतिरोध्य प्रभाव पड़ता है जो उसके विचारों, भावनाओं तथा क्रियाओं को असामान्य बना देता है – मस्तिष्क पर काला परदा छा जाता है, प्राण में उथल-पुथल हो जाती है, सब कुछ इस प्रकार काम करता है मानो व्यक्ति निस्सहाय हो गया हो और अभिभूत करने वाली शक्ति द्वारा घसीटा जा रहा हो।''[७५]

''मैं अनुभव से जानती हूँ कि ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसके अन्दर, भले जीवन में एक ही बार क्यों न हो, भगवान् के लिये – इससे फर्क नहीं पड़ता कि वह उसे क्या नाम देता है, हम भाषा की सुविधा के लिये उसे भगवान् कह रहे हैं – अतिशय उत्कंठा पैदा हुई हो, और जो उस तक पहुँचने के विषय में आश्वस्त न हो; ...उसे कम या अधिक संघर्ष अवश्य करना होगा, कम या अधिक कठिनाई होगी, परंतु एक दिन उसका सफल होना निश्चित है। उसकी अंतरात्मा को चुना गया है, वह सचेतन हो गयी है क्योंकि उसका मुहूर्त्त आ गया है – और एक बार समय आ जाये, तो, परिणाम कम या अधिक तेजी से आ जायेगा। तुम इसे कुछ महीनों में कर सकते हो; तुम इसे कुछ वर्षों में कर सकते हो; तुम इसे कुछ जन्मों में कर सकते हो – किंतु तुम करोगे अवश्य।''[७६]

5. किस प्रकार व्यक्ति मार्ग पर अग्रसर किया जा सकता है – पूर्ण योग की साधना की प्रक्रिया

''जो कुछ मैं स्वयं हूँ उसके अतिरिक्त मैं कुछ भी नहीं जान सकता; यदि मैं अन्यान्य को जानता हूँ तो इसलिए कि वे भी मैं ही हूँ, क्योंकि मेरी आत्मा ने ही इन पररूपों की प्रतीतियों को भी उसी प्रकार धारण किया है जैसे कि उन प्रतीतियों को जो मेरे मानसिक केंद्र के निकटतम हैं। इसी प्रकार समस्त संवेदन, समस्त ऐंद्रिक प्रक्रिया, चाहे बाह्य हो या आंतरिक, भौतिक हो या मानसिक, तत्त्वतः एक ही हैं।''[७७]

''जब हम भगवान् के सम्पर्क में होते हैं या एक अंतर्ज्ञान और अंतर्दृष्टि के सम्पर्क में होते हैं, तब हम अपने जीवन की समस्त परिस्थितियों को एक नए प्रकाश में देखने लगते हैं और यह अवलोकन कर सकते हैं कि हमारे न जानते हुए भी उन सब ने किस प्रकार हमें हमारी सत्ता व चेतना के विकास की ओर प्रवृत्त किया, उस कार्य की ओर प्रवृत्त किया जो हमें करना था, किसी ऐसी उन्नति की ओर जो हमें करनी थी, केवल उस ओर ही नहीं जो शुभ, सौभाग्यशाली या सफल प्रतीत होता था अपितु संघर्षों, असफलताओं, कठिनाइयों और उथल-पुथल की ओर भी। **किंतु प्रत्येक व्यक्ति के साथ यह मार्गदर्शन भिन्न-भिन्न रूप से उसकी प्रकृति के अनुसार, उसके जीवन की अवस्थाओं, उसकी चेतना की बनावट, उसके विकास के स्तर, उसकी और आगे के नए अनुभव की आवश्यकता के अनुसार कार्य करता है।** हम कोई स्वचालित यंत्र नहीं अपितु सचेतन सत्ताएँ हैं और हमारी मानसिकता, संकल्प-शक्ति और इसके निर्णय, जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण तथा

उससे हमारी माँग, हमारे मनोभाव और गतिविधियाँ हमारा पथ निर्धारित करने में हमारी सहायता करते हैं : ये सब अत्यधिक पीड़ा और अशुभ तक ले जा सकते हैं, परंतु इन सब के द्वारा, वह मार्गदर्शक हमारे अनुभव के विकास और परिणामतः हमारी सत्ता तथा चेतना के विकास में इन सब का उपयोग कर लेता है। समस्त प्रगति, वह चाहे जितने टेढ़े-मेढ़े रास्तों से हो, चाहे वह पीछे लौटना या पथभ्रष्ट होना ही क्यों न प्रतीत हो, वह उन अनुभवों को बटोरना ही है जो आत्मा की भवितव्यता के लिए आवश्यक हैं। जब हम भगवान् के साथ निकट सम्पर्क में होते हैं तो ऐसा संरक्षण आ सकता है जो हमारी सहायता करता है या प्रत्यक्ष रूप से पथनिर्देश करता है या प्रेरित करता हैः वह हमारी सारी कठिनाइयों, कष्टों या संकटों को दूर नहीं हटाता अपितु हमें इनमें से गुजारकर उनसे बाहर निकाल ले आता है – केवल उस अवस्था के अलावा जहाँ किसी विशेष प्रयोजन से इससे विपरीत करना अनिवार्य होता है।''[७८]

१. कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व एवं पथ की पहली आवश्यकताएँ

''भगवान् मार्गनिर्देशन कर सकते हैं, किंतु वे बलात् धकेलने का कार्य नहीं करते। 'मनुष्य' कहाए जाने वाली प्रत्येक मानसिक सत्ता को भगवान् के मार्गनिर्देशन को स्वीकार या अस्वीकार करने की आंतरिक स्वतंत्रता दी जाती हैः इसके बिना किसी भी प्रकार का कोई सच्चा आध्यात्मिक विकास हो ही कैसे सकता है?''[७९]

***

''मैं ऐसा मानती हूँ कि रूपांतरण के लिए किया गया एक प्रयत्न जो सत्ता के ठीक आंतरात्मिक केंद्र से आता है, उसमें तथा कुछ

प्राप्त करने के लिए की गई मानसिक रचना में बहुत बड़ा अंतर होता है।

पता नहीं, अपने-आपको स्पष्ट कर पाना बहुत कठिन होता है, परन्तु जब तक चीजें मस्तिष्क में इस प्रकार *(माताजी एक अँगुली माथे तक लाती हैं)* घूमती रहती हैं, उनमें कोई शक्ति नहीं होती। इसमें बहुत ही कम शक्ति होती है जो कि अत्यंत सीमित होती है और यह सर्वदा ही अपने-आपको झुठलाती है। व्यक्ति ऐसा अनुभव करता है कि उसने बहुत कठिनाई से अपनी संकल्प-शक्ति को एकत्र किया है जो कि बहुत हद तक कृत्रिम होती है, और फिर, वह कुछ पकड़ने का प्रयत्न करता है और अगले ही क्षण सब कुछ लुप्त हो जाता है और उसे यह भान भी नहीं हो पाता; वह स्वयं से पूछता है, यह कैसे हुआ?

पता नहीं, मुझे तो मस्तिष्क से योग करना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है – यदि व्यक्ति मजबूती से पकड़ लिया गया हो तो और बात है।''[८०]

***

''विषाद कभी भी प्रगति की आवश्यकता नहीं होता, यह सदा ही दुर्बलता एवं तमस् का चिह्न होता है; यह प्रायः किसी विरोधी शक्ति की उपस्थिति का सूचक होता है, अर्थात्, एक ऐसी शक्ति जो जान-बूझ कर साधना के विरुद्ध कार्य कर रही हो।

अतः, जीवन की सभी परिस्थितियों में तुम्हें सदा ही बहुत सतर्क रहना चाहिए कि विषाद न आने पाए। साथ ही, उदास, म्लान तथा हताश रहने की आदत वास्तव में घटनाओं पर नहीं, अपितु प्रकृति में श्रद्धा के अभाव पर निर्भर करती है। जिसमें श्रद्धा है, भले ही वह केवल

अपने-आप में ही क्यों न हो, वह सभी कठिनाइयों, यहाँ तक की अत्यंत विरोधी सभी परिस्थितियों का भी बिना निरुत्साहित या विषादयुक्त हुए सामना कर सकता है।''[८१]

***

''यह योग एकमात्र भागवत् सत्य की खोज और उसे मूर्तिमान करने की अभीप्सा में ही – अन्य किसी भी वस्तु में नहीं – जीवन को संपूर्ण रूप से उत्सर्ग कर देने की माँग करता है। अपने जीवन को भगवान् तथा किसी बाहरी उद्देश्य और किसी ऐसी क्रिया के बीच बाँटना जिसका 'सत्य' की खोज से कोई संबंध नहीं, अस्वीकार्य है। ऐसी छोटी-से-छोटी चीज भी योग में सफलता असंभव बना देगी।

तुम्हें अपने भीतर जाना होगा और आध्यात्मिक जीवन के प्रति पूर्ण उत्सर्ग करना होगा। यदि तुम योग में सफल होना चाहो तो मानसिक अभिरुचियों से चिपकाव को तुमसे छूटना होगा, प्राणिक लक्ष्यों और हितों तथा आसक्तियों पर आग्रह को छोड़ना होगा, परिवार, मित्रगण तथा देश के प्रति अहंकारयुक्त लगाव को लुप्त होना होगा। जिस किसी चीज को बहिर्गामी शक्ति या क्रिया के रूप में आगे आना हो उसे एक बार ज्ञात हुये सत्य से ही आना होगा न कि निम्नतर मन या प्राणिक उद्देश्यों से, भागवत् संकल्प से आना होगा न कि व्यक्तिगत पसंद या अहं की अभिरुचियों से।''[८२]

***

''आध्यात्मिक प्रयास का यह एक सर्वस्वीकृत सिद्धांत है कि आध्यात्मिकृत चेतना द्वारा भगवान् तक पहुँचने के लिए व्यक्ति

को बिना कुछ बचाए सब कुछ उत्सर्ग कर देने के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक स्तर पर आत्म-विकास करना उसका उद्देश्य हो तो दूसरी बात है – वह जीवन तो अहं का जीवन है जिसमें अंतरात्मा को अविकसित या अर्ध-विकसित अवस्था में पीछे रख दिया जाता है। परंतु आध्यात्मिक जिज्ञासु जिस एकमात्र विकास की जिज्ञासा रखता है वह है चैत्य और आध्यात्मिक चेतना का विकास और वह भी मात्र इसलिए कि वह भगवान् तक पहुँचने और उनकी सेवा करने के लिए आवश्यक है, न कि अपने आप के लिए। जिस मानसिक, प्राणिक और भौतिक विकास को अथवा अंतर्निर्हित शक्तियों के प्रयोग को आध्यात्मिक जीवन का एक अंग और भगवान् के लिए एक यंत्र बनाया जा सकता है, केवल उसी को इस शर्त पर रखा जा सकता है कि वह रूपांतर के लिए और आध्यात्मिक आधार पर उनको पुनर्व्यक्त किये जाने के लिए समर्पित हो। परंतु हमें उन्हें स्वयं उनकी चाह के लिए या अहं के लिए या अपनी निजी अधिकृत वस्तु के रूप में या अपने निजी उद्देश्य के लिए नहीं अपितु भगवान् के लिए रखना चाहिए।''[८३]

***

''**गुरु के प्रति समर्पण को सभी समर्पणों से परे का समर्पण बताया जाता है** क्योंकि उसके द्वारा तुम निराकार को ही नहीं अपितु साकार को, केवल अपने अंदर विद्यमान भगवान् को ही नहीं, अपितु अपने बाहर विद्यमान भगवान् को भी समर्पण करते हो; इससे तुम्हें केवल आत्मा में शरण लेने से ही नहीं, जहाँ अहं नहीं होता, वरन् अपनी व्यक्तिगत प्रकृति में भी, जहाँ कि उसका शासन होता है, अहं को अतिक्रमण करने का सुयोग प्राप्त होता है। यह समग्र भगवान् – 'समग्रं

माम्... मानुषी तनुं आश्रितम्' – के प्रति पूर्ण समर्पण करने के लिए संकल्प का चिह्न है। निःसंदेह यह सब सत्य होने के लिए इसका सच्चा आध्यात्मिक समर्पण होना आवश्यक है।''[८४]

***

''गुरु सभी भावों में स्वीकार किया जाना चाहिए – परात्पर, निराकार और साकार।''[८५]

***

''गुरु योग का पथ-प्रदर्शक होता है। जब भगवान् को पथ-प्रदर्शक के रूप में अंगीकार किया जाता है तो उन्हें गुरु के रूप में अंगीकार किया जाता है।''[८६]

***

''भगवान् को समर्पण तथा गुरु को समर्पण एक ही चीज नहीं हैं। गुरु को समर्पण करने में व्यक्ति गुरु में विद्यमान भगवान् को ही समर्पण करता है – यदि वह केवल एक मानव सत्ता के प्रति ही होता तो वह निष्प्रभावी होता। परंतु भागवत् उपस्थिति की चेतना ही गुरु को एक सच्चा गुरु बनाती है, जिससे कि यदि शिष्य उनके प्रति यह समझकर भी समर्पण करे कि वह जिसे समर्पण कर रहा है वह एक मनुष्य है तब भी वह उपस्थिति उसे प्रभावी बना देगी।''[८७]

''क्योंकि सभी गुरु समान ही भगवान् हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि शिष्य उसके लिए निर्दिष्ट गुरु को छोड़कर किसी और का अनुगमन करे तो यह ठीक होगा। भारतीय परंपरानुसार प्रत्येक शिष्य से गुरु के प्रति निष्ठा की माँग की जाती है। 'सभी एक समान हैं'

यह एक आध्यात्मिक सत्य है, किंतु तुम इसे बिना सोच विचार के कर्म में प्रयुक्त नहीं कर सकते; तुम सभी से समान व्यवहार नहीं रख सकते चूँकि वे सब एक ही ब्रह्म हैं : यदि व्यक्ति ऐसा करता है, तो परिणाम व्यावहारिक रूप से एक भयंकर गड़बड़ी होगा। अनमनीय मानसिक तर्क ही कठिनाई पैदा करता है, परंतु आध्यात्मिक विषयों में मानसिक तर्क सहज ही भूल कर बैठता है; इस क्षेत्र में केवल अंतः-प्रज्ञा, श्रद्धा, एक नमनीय आध्यात्मिक बुद्धि ही एकमात्र मार्गदर्शक हैं।''[८८]

२. प्रकृति की तैयारी – प्रकृति का उद्घाटन, शुद्धिकरण एवं परिवर्तन

''यह योग निश्चय ही कठिन है, परंतु क्या कोई भी योग वास्तव में सुगम है?... ऐसा कौन-सा मार्ग है जिसे गंतव्य स्थान तक पहुँचने के लिए शुष्क मरुभूमि में से नहीं गुजरना पड़ता? यहाँ तक कि भक्तिमार्ग भी, जो सबसे सुगम कहा जाता है, भक्तों के विलापों से भरा पड़ा है जो ये शिकायत करते हैं कि वे लोग तो पुकारते हैं पर प्रियतम उनकी पकड़ से चालाकी से निकल जाते हैं, मिलन का स्थान सुसज्जित है किंतु अब भी कृष्ण नहीं आते। और जब संक्षिप्त झलक का हर्ष या मिलन का अनुराग प्राप्त होता भी है, तो उसके बाद विरह के दीर्घ अंतराल आते हैं। यह सोचना एक भूल है कि योग का कोई भी पथ सुगम है, अथवा कोई मार्ग भगवान् की ओर जानेवाला राजपथ या फिर छोटा रास्ता है, या ''सुगम फ्रेंच शिक्षक'' अथवा 'बिना कठिनाई के फ्रेंच' की ही भाँति 'सुगम योग-शिक्षक' या 'बिना कठिनाई के योग' की पद्धति भी हो सकती है। कुछ-एक महान् आत्माएँ जो पूर्व जन्मों द्वारा तैयार की जा चुकी हैं या किसी अन्य रूप से सामान्य आध्यात्मिक क्षमता से ऊपर उठ चुकी हैं,

अधिक शीघ्र साक्षात्कार प्राप्त कर सकती हैं, कुछ को प्रारंभिक अवस्था में ही ऊपर उठाने वाले अनुभव प्राप्त हो सकते हैं, किंतु अधिकांश के लिए पथ की सिद्धि, वह चाहे जो हो, एक सुदीर्घ, दुष्कर और धैर्य-युक्त अभ्यास के बाद ही प्राप्त होती है। संघर्ष के बिना कोई भी आध्यात्मिक विजय के शिखर पर आरूढ़ नहीं हो सकता या फिर चढ़ाई और उसके श्रम के बिना ऊँचाइयों पर नहीं पहुँच सकता। सभी मार्गों के बारे में यह कहा जा सकता है, '**दुर्गम है वह पथ, छुरे की धार की तरह, और उस पर चलना है अति कठिन।**'

तुम इस मार्ग को नीरस इसीलिए अनुभव करते हो क्योंकि तुमने अभी तक इसके बाहरी छोर को भी स्पर्श नहीं किया है। परंतु सभी मार्गों में उनकी नीरस घड़ियाँ आती हैं और अधिकांश के लिए, यद्यपि सब के लिए नहीं, प्रारंभ में ऐसा ही होता है। **एक ऐसी आंतरिक मनोवैज्ञानिक स्थिति तक पहुँचने के लिए, जिसमें अनुभव के द्वार खुल सकते हैं और व्यक्ति एक आलोक से दूसरे आलोक की ओर चल सकता है, एक लंबे तैयारी के दौर की आवश्यकता होती है** – यद्यपि उसके बाद भी नए द्वार सामने आ सकते हैं और खुलने के लिए तब तक इन्कार कर सकते हैं जब तक कि सब कुछ तैयार न हो जाए। यह काल नीरस और मरुभूमि जैसा हो सकता है यदि व्यक्ति में आत्म-निरीक्षण और आत्म-प्रभुत्व की ललक न हो और जिसे प्रयास तथा संघर्ष का प्रत्येक कदम रुचिकर न लगता हो, या जब उसको उस विश्वास और आत्मदान का रहस्य प्राप्त न हो या प्राप्त न हो जाय जिससे कि वह पथ के पग-पग पर भागवत् हस्त को, यहाँ तक कि संकट काल में भी कृपा या उनके मार्गदर्शन को देख पाए। योग का प्रारंभ में उसकी कठिनाई और संघर्ष के

कारण ऐसा वर्णन कि वह 'प्रारंभ में विष जैसा कटु' और अंत में सिद्धि के हर्ष, मुक्ति की शांति या दिव्य आनंद के कारण ऐसा वर्णन कि 'किंतु अंत में अमृततुल्य मधुर', और इसके साथ ही साधकों तथा भक्तों के द्वारा प्रायः नीरसता के काल का वर्णन, पर्याप्त रूप से यह दर्शाता है कि यह कोई इसी योग की निराली विशेषता नहीं है। सभी पुरातन योग-पद्धतियों ने इसे स्वीकार किया है और इसी कारण गीता कहती है कि योग का अभ्यास धीर-स्थिर भाव से तथा ऐसे हृदय के साथ करना चाहिए जो अपने को निराशा से आच्छन्न न होने दे।''[८९]

***

''**अधिकांश मनुष्य, पशुओं की तरह, प्रकृति की शक्तियों द्वारा चालित होते हैं: जो भी कामनाएँ आएँ, वे उन्हें पूरा करते हैं, जो भी आवेग आएँ वे उन्हें क्रिया करने देते हैं, जो भी भौतिक इच्छाएँ हों वे उन्हें संतुष्ट करने की चेष्टा करते हैं।** तब हम कहते हैं कि मनुष्यों की क्रियाएँ तथा भावनाएँ उनकी प्रकृति द्वारा नियंत्रित हैं और अधिकाशतः प्राणिक तथा भौतिक प्रकृति द्वारा। शरीर प्रकृति का यंत्र होता है – वह स्वयं की प्रकृति की आज्ञा मानता है या कामना, आवेग आदि प्राणिक शक्तियों की आज्ञा मानता है।

परंतु मनुष्य में एक मन भी है, जैसे-जैसे वह विकसित होता है, वह अपनी तर्क-शक्ति (उचित-अनुचित बोध) और अपनी संकल्प शक्ति के द्वारा अपनी प्राणिक और भौतिक प्रकृति को नियंत्रित करना सीखता है। यह नियंत्रण बहुत ही आंशिक होता है: क्योंकि तर्क-शक्ति बहुधा प्राणिक कामनाओं तथा भौतिक अज्ञान के द्वारा भ्रमित हो जाती है और वह उनके पक्ष में आकर अपने विचारों, तर्कों या युक्तियों के द्वारा उनकी

भूलों और भ्रांत क्रियाओं का समर्थन करने की चेष्टा करती है। यदि तर्क शक्ति मुक्त भी हो और प्राण तथा शरीर को कहे, ''ऐसा मत करो'', तब भी प्राण तथा शरीर उस प्रतिकार के बाद भी अपनी ही गतिविधि का अनुसरण करते हैं – मनुष्य की मानसिक संकल्प-शक्ति इन्हें बाध्य करने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली नहीं होती।

जब लोग साधना करते हैं तो एक उच्चतर प्रकृति है, चैत्य तथा आध्यात्मिक, जो भीतर कार्य करती है, और उन्हें अपनी प्रकृति को चैत्य सत्ता तथा उच्चतर आध्यात्मिक सत्ता या फिर भगवान् के प्रभाव के अधीन रखना होता है। न केवल प्राण तथा शरीर, अपितु मन को भी भागवत् सत्य को सीखना होता है तथा दिव्य विधान का पालन करना होता है। परंतु निम्न प्रकृति तथा उन पर उसके सतत् नियंत्रण के कारण, वे शुरू में और एक सुदीर्घ काल तक अपनी प्रकृति को पुराने तरीकों का अनुसरण करने से रोकने में असमर्थ होते हैं – यहाँ तक कि तब भी जब वे जानते हों या भीतर से निर्देशित हों कि क्या करना है और क्या नहीं करना। केवल निरंतर साधना द्वारा उच्चतर आध्यात्मिक चेतना और आध्यात्मिक प्रकृति में पहुँचने पर यह कठिनाई जीती जा सकती है; परंतु सबसे शक्तिशाली और श्रेष्ठतम साधकों को भी इसमें लंबा समय लगता है।''[९०]

***

''शुद्धिकरण और आत्मोत्सर्ग साधना की दो महान् अनिवार्यताएँ हैं। शुद्धिकरण के पूर्व जिन्हें अनुभव होते हैं उन्हें बहुत बड़े खतरे की आशंका रहती है: हृदय का पहले शुद्ध होना बहुत श्रेयस्कर होता है क्योंकि तब मार्ग सुरक्षित हो जाता है। इसीलिए मैं पहले प्रकृति के चैत्य

रूपांतर का प्रतिपादन करता हूँ – क्योंकि इसका अर्थ है हृदय का शुद्धिकरण : उसका पूर्ण रूप से भगवान् की ओर मुड़ाव, मन तथा प्राण का आंतरिक सत्ता अर्थात् आत्मा के नियंत्रण के अधीनस्थ होना। सर्वदा ही, जब आत्मा अग्र भाग में हो तो व्यक्ति को अंदर से सही मार्गदर्शन प्राप्त होता है कि क्या करना है, क्या करने से बचना है, विचार, भावना तथा क्रिया में क्या अनुचित है और क्या यथार्थ है। परंतु यह आंतरिक संकेत उसी अनुपात में प्रकट होता है जिस अनुपात में चेतना अधिकाधिक शुद्ध होती जाती है।''[९१]

***

''बहुतों को अनुभव, इससे पहले कि प्रकृति उनसे पूरा लाभ उठाने के लिए तैयार हो, होने लगते हैं; दूसरों के लिए प्रकृति के उपादानों या उपकरणों के शोधन तथा उनकी तैयारी का न्यूनाधिक दीर्घकाल पहले आता है, जब कि अनुभव तब तक रोके रखे जाते हैं जब तक कि यह प्रक्रिया अधिकांशतः या पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाती। बाद की विधि जो तुम्हारे उदाहरण में अपनाई गई प्रतीत होती है, वह दोनों विधियों में से अधिक सुरक्षित तथा अधिक सुदृढ़ है। इस संबंध में हम मानते हैं कि यह प्रत्यक्ष ही है कि तुमने अत्यधिक उन्नति की है, उदाहरण के लिए, उग्रता, अधीरता तथा उत्तेजना पर, जो तुम्हारी ज्वालामुखीय (विस्फोटक) शक्ति की वृत्ति के लिए स्वाभाविक थी, नियंत्रण करने में, तथा अतीव चंचल मन एवं स्वभाव के कुपथगामी एवं भ्रांतिशील आवेगों को लगाम लगाने के लिए सच्चाई का प्रयोग करने में और समग्र रूप से सारी सत्ता के भीतर महत्तर शांति और समस्वरता स्थापित करने में तुमने पर्याप्त प्रगति की है। निःसंदेह इस प्रक्रिया को पूरी करना आवश्यक है, परंतु कुछ अत्यंत मूलभूत संपन्न हो चुका प्रतीत होता है। **इस विषय को**

नकारात्मक की अपेक्षा सकारात्मक पार्श्व की ओर से देखना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिन चीजों की स्थापना करनी है वे हैं – *ब्रह्मचर्यं शमः सत्यं प्रशांतिरात्मसंयमः; ब्रह्मचर्यं,* पूर्ण लैंगिक पवित्रता; *शमः,* सत्ता में शांति और समस्वरता, अर्थात् इसकी शक्तियाँ बनी रहें पर नियंत्रित, समस्वरित एवं अनुशासित हों; *सत्यम्,* संपूर्ण प्रकृति में सत्य और निष्कपटता; *प्रशांतिः,* शांति और स्थिरता की व्यापक अवस्था; *आत्मसंयमः,* प्रकृति की चेष्टाओं में से जिसे भी संयत करने की आवश्यकता हो उसे संयत करने की शक्ति और अभ्यास। जब ये पर्याप्त रूप में प्रतिष्ठित हो जाएँ तब व्यक्ति के अंदर वह आधारशिला स्थापित हो जाती है जिस पर वह यौगिक चेतना विकसित कर सकता है और यौगिक-चेतना के विकास के साथ आता है उपलब्धि और अनुभूति की ओर सहज उद्घाटन।''[९२]

***

''निश्चय ही भक्त नहीं अपितु ज्ञानी पहले अनुभव की माँग करता है। वह कह सकता है, ''मैं अनुभव के बिना कैसे जान सकता हूँ?'' परंतु वह भी तोतापुरी की भाँति तीस वर्षों तक भी खोजता रह सकता है, किसी निर्णायक उपलब्धि को पाने का प्रयत्न करते हुए। वस्तुतः बुद्धि-प्रधान, तार्किक व्यक्ति ही यह कहता है, 'यदि भगवान् हैं तो वह पहले अपने को मेरे सम्मुख सिद्ध करें, तब मैं विश्वास करूँगा, तब मैं उसका अन्वेषण करने के लिए कोई गंभीर और दीर्घ प्रयास करूँगा और देखूँगा कि वे कैसे हैं।'

इस सब का यह तात्पर्य नहीं कि अनुभव साधना के लिए व्यर्थ हैं – मैंने निश्चय ही ऐसी मूर्खतापूर्ण बात नहीं कही होगी। मैंने जो कहा है

वह यह है कि अनुभव आने से पहले भगवान् के प्रति प्रेम और उनकी खोज हो सकती है और सामान्यतया रहती ही है – यह एक सहजबोध, अंतरात्मा में अंतर्निहित एक उत्कंठा है और ज्यों ही अंतरात्मा के कोई आवरण दूर होते हैं या दूर होना आरंभ करते हैं, वह ऊपर आ जाती है। दूसरी बात मैंने यह कही है कि 'अनुभूतियों' के आरंभ होने से पूर्व प्रकृति को तैयार (विशुद्ध हृदय इत्यादि) कर लेना अधिक अच्छा होता है, बजाय इससे विपरीत स्थिति के, और मैं इसे उन उदाहरणों के आधार पर कहता हूँ जिसमें सच्ची अनुभूति के लिए हृदय और प्राण के तैयार होने से पहले ही अनुभूतियों के कारण खतरा उत्पन्न हुआ है। अवश्य ही, बहुत से लोगों को सच्ची अनुभूति पहले प्राप्त होती है, कृपा का एक स्पर्श प्राप्त होता है, पर यह कोई ऐसी चीज नहीं जो स्थायी हो और सर्वदा रहे अपितु वह एक ऐसी चीज होती है जो स्पर्श कर पीछे हट जाती है और प्रकृति के तैयार हो जाने की प्रतीक्षा करती है। परंतु, मुझे लगता है, प्रत्येक दृष्टांत में ऐसा नहीं होता, न अधिकांशतः ही ऐसा होता है। व्यक्ति को अंतरात्मा की सहज उत्कंठा से आरंभ करना होता है, उसके बाद मंदिर को तैयार करने के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष होता है, और फिर दिव्य विग्रह का उद्घाटन और अंत में आती है देवालय में स्थायी दिव्य-उपस्थिति।''[९३]

***

''निम्नतर प्रकृति एवं उसकी बाधाओं के विषय में बहुत अधिक विचार करते रहना एक भूल है, जो कि साधना का नकारात्मक पहलू है। इन्हें देखना और शुद्ध करना होगा किंतु एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु के रूप में उन्हीं में तल्लीन रहना लाभप्रद नहीं है। अवतरण के अनुभव का सकारात्मक पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है।

यदि कोई सकारात्मक अनुभव को नीचे बुलाने से पूर्व यह प्रतीक्षा करे कि पहले निम्नतर प्रकृति पूरी तरह और सदा के लिए शुद्ध हो जाय, तो संभव है कि उसे सदा ही प्रतीक्षारत रहना पड़े। यह सत्य है कि जितना अधिक निम्न प्रकृति शुद्ध होगी, उतना ही उच्चतर प्रकृति का अवतरण सुगम हो जाएगा, परंतु यह भी सत्य है, अपितु और भी अधिक सत्य है, कि उच्चतर प्रकृति जितनी अधिक अवतरित होगी उतना ही अधिक निम्न प्रकृति शुद्ध होती जाएगी। न तो पूर्ण शुद्धि और न ही स्थायी एवं पूर्ण आविर्भाव अकस्मात् आ सकते हैं, यह समय और धैर्यपूर्ण प्रगति का विषय है। ये दोनों (शुद्धिकरण और आविर्भाव) साथ ही साथ प्रगति करते जाते हैं और एक दूसरे की सहायता करने के लिए उत्तरोत्तर बलशाली होते जाते हैं – यही साधना का प्रचलित मार्ग है।''[९४]

***

''मैं नहीं जानता 'क्ष' ने क्या कहा है या किस लेख में लिखा है, वह (लेख) मेरे पास नहीं है। परंतु यदि कथन यह हो कि जब तक कोई भी व्यक्ति शुद्ध और पूर्ण नहीं हो जाता तब तक सफल ध्यान या किसी वस्तु का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकता, तो यह बात मेरी समझ में नहीं आती, यह मेरे स्वयं के अनुभव के विपरीत है। **मुझे सदा ही ध्यान द्वारा अनुभूति पहले प्राप्त हुई है और शुद्धि बाद में परिणामस्वरूप शुरू हुई।** मैंने बहुतों को महत्त्वपूर्ण, यहाँ तक कि मूलभूत अनुभूतियाँ ध्यान के द्वारा प्राप्त करते देखा है जिनके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे आंतरिक रूप से बहुत अधिक विकसित थे। क्या वे सभी योगी, जिन्होंने प्रभावशाली रूप से ध्यान करके अपनी आंतरिक चेतना में महान् उपलब्धियाँ प्राप्त की हों, अपनी प्रकृति में पूर्ण थे? मुझे नहीं लगता

कि ऐसा है। **इस क्षेत्र में कोई परम् सर्वसामान्य सिद्धान्त है, ऐसा मैं नहीं मान सकता, क्योंकि आध्यात्मिक चेतना का विकास एक अत्यंत विस्तृत एवं जटिल विषय है जिसमें सभी प्रकार की चीजें हो सकती हैं और व्यक्ति लगभग ऐसा कह सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी प्रकृति के अनुसार यह भिन्न-भिन्न है** और एकमात्र चीज जो आवश्यक है वह है आंतरिक पुकार और अभीप्सा तथा सदैव उसका अनुसरण करने की दृढ़ता, परवाह नहीं कि इसमें कितना समय लगे, क्या कठिनाइयाँ या बाधाएँ आएँ क्योंकि और कोई चीज हमारे भीतर की आत्मा को संतुष्ट नहीं कर सकती।

यह सर्वथा सत्य है कि शुद्धि की एक नियत मात्रा आगे बढ़ने के लिए अपरिहार्य है, कि शुद्धि जितनी अधिक पूर्ण हो उतना ही बेहतर है, क्योंकि तब जब अनुभूतियाँ प्रारंभ हों तो वे किसी बड़ी कठिनाई या पलटाव के और पतन या असफलता की आशंका के बिना आगे बढ़ सकते हैं। यह भी सत्य है कि बहुत लोगों के लिए शुद्धि प्रथम आवश्यकता होती है, – इससे पूर्व कि व्यक्ति कोई क्रमबद्ध आंतरिक अनुभव शुरू करे, कुछ अमुक चीजों को रास्ते से हटा देना होता है। परंतु मुख्य आवश्यकता है चेतना की एक हद तक तैयारी जिससे कि वह उच्चतर शक्ति को उत्तरोत्तर मुक्त भाव से प्रत्युत्तर दे सके। ...चैत्य तैयारी, मानसिक तथा प्राणिक अहं के निम्नतर रूपों का शोधन, मन तथा हृदय का गुरु के प्रति उद्घाटन, अन्य बहुत-सी चीजें अत्यधिक रूप से सहायक होती हैं – पूर्णता या द्वन्द्वों से या अहं से पूर्ण मुक्ति अनिवार्य प्राथमिकता नहीं है, अपितु अंतःपुरुष की तत्परता, उसकी तैयारी ही है जो आध्यात्मिक प्रत्युत्तर और प्राप्ति को संभव बनाती है।

अतः इन माँगों को सैद्धांतिक सत्य मान लेने का कोई कारण नहीं है जो कि संभव है 'क्ष' ने जिस पथ का अनुगमन किया उसके लिए उचित हों, परंतु सब पर इसे नहीं थोपा जा सकता – **आत्मा का विधान इतना कठोर और अटल नहीं होता।**''[९५]

***

''केवल उच्चतर चेतना की अनुभूतियाँ होना ही प्रकृति को नहीं बदलेगा। या तो उच्चतर चेतना को समस्त सत्ता में सक्रिय अवतरण कर उसे बदलना होगा; या फिर उसे अंतर्भौतिक तक अंतर्सत्ता में स्वयं को प्रतिष्ठित करना होगा जिससे कि आंतरिक सत्ता अपने को बाह्य सत्ता से पृथक् अनुभव करे और उस पर स्वतंत्रतापूर्वक क्रिया कर सके; या चैत्य को सम्मुख आकर प्रकृति को बदलना होगा; या आंतरिक संकल्प-शक्ति को जागृत होकर प्रकृति को बदलने के लिए बाध्य करना होगा। ये चार तरीके हैं जिनके द्वारा परिवर्तन साधित किया जा सकता है।''[९६]

३. साधना में अनुभवों तथा उपलब्धियों का स्वरूप एवं उनकी भूमिका

''ईश्वर और जगत्-विषयक आध्यात्मिक दृष्टि केवल विचारात्मक ही नहीं है, न प्रधानतः या प्रथमतः ही विचारात्मक है। वह तो प्रत्यक्ष अनुभव है और उतना ही वास्तविक, जीवंत, निकट, सतत्, प्रभावकारी तथा अंतरंग होता है जितना कि मन के लिए आकारों, पदार्थों और व्यक्तियों का इन्द्रियों द्वारा अवलोकन करना व संवेदन करना। केवल स्थूल मन ही है जो ईश्वर एवं आत्मा को कपोल-कल्पना मात्र

मानता है जिसे वह दृष्टिगोचर नहीं कर सकता या न ही जिसका स्वयं के सम्मुख शब्दों, नामों, प्रतीकात्मक रूपों तथा कल्पनाओं के बिना निरूपण ही कर सकता है। **आत्मा आत्मा को देखती है, दिव्यीकृत चेतना भगवान् को वैसे ही प्रत्यक्ष रूप में तथा उससे भी अधिक प्रत्यक्ष रूप में, वैसे ही घनिष्ठ रूप से तथा उससे भी अधिक घनिष्ठ रूप से देखती है जितना कि शारीरिक चेतना जड़ पदार्थ को देखती है। वह भगवान् को देखती, अनुभव करती, उनका चिंतन करती तथा उनका इंद्रियानुभव करती है। क्योंकि, आध्यात्मिक चेतना को समस्त व्यक्त जगत् आत्मा के जगत् के रूप में दृश्यमान होता है तथा जड़तत्त्व का जगत् नहीं, प्राण का जगत् नहीं, यहाँ तक कि मन के जगत् के रूप में भी नहीं; ये अन्य चीजें उसकी दृष्टि में केवल ईश्वर-विचार, ईश्वर-शक्ति, ईश्वर-रूप ही होती हैं। वासुदेव में निवास करने तथा कर्म करने, '*मयि वर्तते*' से गीता का यही तात्पर्य है। आध्यात्मिक चेतना परमेश्वर के बारे में उस घनिष्ठ तादात्म्य-ज्ञान के द्वारा सचेतन है जो चिंत्य वस्तु के किसी भी मानसिक बोध या गोचर पदार्थ के किसी भी ऐंद्रिय अनुभव से बहुत अधिक वास्तविक है।** उस परम् सत्ता के बारे में भी यह उसी प्रकार सचेतन है – जो कि समस्त दृश्य जगत् के पीछे और परे विद्यमान है और जो उसका उद्गम है तथा उससे अतीत है और उसके उतार-चढ़ावों से सदा से परे है।''[१७]

***

''*व्यक्ति को सदा ही अपने अनुभव से अधिक उच्च होना चाहिये।*

मेरा मतलब यह था:

किसी अनुभव का स्वरूप, उसकी शक्ति और उसका चमत्कार चाहे जो भी क्यों न हो, उससे तुम्हें इस हद तक अभिभूत नहीं हो जाना चाहिये कि वह तुम्हारी समूची सत्ता पर राज्य करने लगे और तुम अपना संतुलन तथा युक्तिसंगत और शांत-स्थिर मनोभाव के साथ संपर्क ही खो दो। कहने का तात्पर्य है, जब तुम चाहे जिस किसी उपाय से, एक ऐसी शक्ति या चेतना के संपर्क में आओ जो तुम्हारी चेतना को अतिक्रम करती हो तो, इस चेतना या शक्ति द्वारा पूर्णतः अधिकृत होने के बदले, तुम्हें सर्वदा स्वयं को यह याद दिलाने में सक्षम होना चाहिये कि यह तो अन्य हजारों-हजारों अनुभूतियों में से केवल *एक* अनुभूति है, और यह कि, परिणामतः, इसका स्वरूप कोई निरपेक्ष नहीं है, यह सापेक्ष है। भले ही यह कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, तुम अधिक अच्छी अनुभूतियाँ प्राप्त कर सकते हो और प्राप्त करनी ही चाहियेः वह (अनुभूति) चाहे कितनी भी असामान्य क्यों न हो, ऐसी और हैं जो और अधिक अद्भुत हैं; और यह कितनी भी ऊँची क्यों न हो, तुम सदा ही भविष्य में और अधिक ऊँचाई पर उठ सकते हो। अतएव अपना विवेक खोने के बदले व्यक्ति उस अनुभव को अपने विकास की शृंखला के अंदर रख देता है और एक स्वस्थ भौतिक संतुलन बनाये रखता है ताकि वह साधारण जीवन के साथ सापेक्षता का बोध न खो दे। इस तरीके में कोई खतरा नहीं है।

उपाय ?... जो मनुष्य जानता है कि इसे कैसे करना है, उसे यह सदा ही बहुत सरल प्रतीत होगा, परंतु जो इसे नहीं जानता उसके लिये संभवतः यह ...कुछ कष्टकर है।

इसका एक उपाय है।

वह है उस भगवत्कृपा, जो कि परमात्मा की अभिव्यक्ति है, के

प्रति पूर्ण आत्म-दान के भाव को कभी न खोना। जब व्यक्ति अपने-आपको दे देता है, अपने-आपको समर्पित कर देता है, अपने आप को समग्र रूप से 'उसे' सौंप देता है जो ऊपर है, समस्त सृष्टि के परे है, और जब, **अनुभूति से कोई व्यक्तिगत लाभ उठाने की चेष्टा करने के स्थान पर, वह उसे भागवत् कृपा के प्रति भेंट कर देता है और यह जानता है कि वास्तव में 'उसी' से अनुभव आता है और 'उसी' को अनुभव का परिणाम भी दे देना होगा, तब मनुष्य सर्वथा सुरक्षित हो जाता है।**

दूसरे शब्दों में: कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं, कोई मिथ्याभिमान नहीं, कोई अहंकार नहीं। सच्चा आत्मदान, सच्ची विनम्रता हो तो मनुष्य सभी खतरों से सुरक्षित हो जाता है। बस, यही बात है; यही वह चीज है जिसे मैं अपने अनुभव से अधिक ऊँचा होना कहती हूँ।''[१८]

***

''सभी अनुभवों का मूल्य केवल उसे अनुभव करनेवाले की सच्चाई के अनुपात में होता है। कुछ लोग सच्चे नहीं होते और आश्चर्यजनक अनुभवों की मिथ्या-रचना कर लेते हैं: और वे ऐसी कल्पना करते हैं कि उन्हें ऐसे अनुभव होते हैं। मैं ऐसी सभी बातों को एक ओर रख देती हूँ, यह रुचिकर नहीं है। परंतु सच्चे लोगों का जहाँ तक प्रश्न है, जिन्हें सच्चा अनुभव हुआ है, एक बार जिन्हें भागवत् 'उपस्थिति' का अनुभव हो चुका है, उनसे सारा संसार यह कह सकता है कि यह सत्य नहीं है, पर वे जरा भी टस-से-मस नहीं होंगे।

यदि तुम सच्चे नहीं हो तो तुम्हें विलक्षण अनुभव हो सकते हैं पर

उनका न तो तुम्हारे लिये न दूसरों के लिये कोई मूल्य है। तुम्हें अपने विचारों का बहुत हद तक अविश्वास ही करना चाहिये, क्योंकि मन एक विचित्र निर्माणकर्त्ता है और यह केवल अपनी रचनाओं के द्वारा तुम्हें विस्मयजनक अनुभूतियाँ प्रदान कर सकता है; परंतु ऐसी अनुभूतियों का कोई मूल्य नहीं होता। अतएव पहले से यह न जानना कहीं अधिक अच्छा है कि क्या होने जा रहा है।''[९९]

***

''अन्य यौगिक अनुभवों की ही भाँति चैत्य-अनुभवों तथा अदृश्य जगतों के ज्ञान की उपयोगिता हमारे इन संकीर्ण मानवीय धारणाओं, कि मनुष्य के वर्तमान भौतिक जीवन के लिए क्या उपयोगी हो सकता है, के द्वारा नहीं आँकी जा सकती। पहले तो, ये चीजें चेतना की पूर्णता तथा सत्ता की सम्पूर्णता के लिए आवश्यक हैं। दूसरे, ये अन्य जगत् वास्तव में हमारे ऊपर क्रिया कर रहे हैं। और यदि तुम उन्हें जान सको तथा उनमें प्रवेश कर सको तो इन शक्तियों के शिकार तथा कठपुतलियाँ मात्र बने रहने की जगह हम उनके साथ सचेतन रूप से व्यवहार, उनका नियंत्रण एवं उपयोग कर सकते हैं। तीसरे, मेरे योग, अतिमानसिक योग में चैत्य चेतना, जिससे कि ये अनुभव संबद्ध हैं, का उद्घाटन सर्वथा अनिवार्य है। क्योंकि केवल चैत्य उद्घाटन द्वारा ही एक सशक्त एवं ठोस पकड़ के साथ अतिमानस पूर्ण रूप से अवतरित होकर मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ता को रूपांतरित कर सकता है।''[१००]

***

''योग में दो श्रेणियों की चीजें होती हैं, उपलब्धियाँ (realisations) और अनुभव। उपलब्धियाँ हैं चेतना में भगवान्

के मूलभूत सत्यों, उच्चतर या दिव्य प्रकृति के, विश्व-चेतना एवं उसकी शक्तियों के कार्य-व्यापार के, व्यक्ति के अपने आत्म-तत्त्व व उसके सच्चे स्वभाव के तथा वस्तुओं की आंतरिक प्रवृत्ति के मूलभूत सत्यों को ग्रहण करना तथा उन्हें स्थापित करना, इन चीजों की शक्ति व्यक्ति में बढ़ती रहती है जब तक कि ये उसके आंतरिक जीवन एवं अस्तित्व के अंग ही न बन जाएँ – उदाहरण के लिए, भागवत् उपस्थिति का साक्षात्कार, चेतना में उच्चतर शांति, प्रकाश, शक्ति तथा आनंद का अवतरण व उसका स्थायी होना तथा वहाँ क्रिया करना, भागवत् अथवा आध्यात्मिक प्रेम का साक्षात्कार, स्वयं के चैत्य पुरुष का बोध, स्वयं की सच्ची मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय सत्ता की प्राप्ति, अधिमन या अतिमानसिक चेतना का साक्षात्कार – इन सभी चीजों का हमारी वर्तमान निम्न प्रकृति से संबंध तथा इस निम्नतर प्रकृति को बदलने के लिए इस पर इन सभी की क्रिया का स्पष्ट बोध। अवश्य ही, यह सूची अत्यधिक लंबी हो सकती है। इन चीजों को प्रायः अनुभव भी कहते हैं जब वे केवल आकस्मिक प्रकाश, क्षणिक दौर या अप्रत्याशित प्रादुर्भाव के रूप में आएँ; उन्हें पूर्ण उपलब्धियाँ तभी कहते हैं जब वे अत्यधिक सुनिश्चित, बहुधा, लगातार अथवा नियमित बन जाएँ।

फिर, ऐसे अनुभव भी होते हैं जो आध्यात्मिक अथवा दिव्य चीजों की उपलब्धियों में सहायता करते हैं अथवा उनकी ओर ले जाते हैं या साधना में नए उद्घाटन या उन्नतियाँ लाते हैं, या मार्ग में सहायक होते हैं, – जैसे प्रतीकात्मक तरीके के अनुभव, अंतर्दर्शन, भगवान् के साथ या उच्चतर सत्य के कार्य-व्यवहार के साथ किसी-न-किसी प्रकार का संपर्क, कुण्डलिनी जागरण, चक्रों के उद्घाटन, संदेशों, अंतर्भासों, आंतरिक शक्तियों के खुलने, आदि जैसी चीजें। वह चीज जिसके बारे में

व्यक्ति को सावधान रहना चाहिए वह है यह देखना कि वे (अनुभव) विशुद्ध और निष्कपट हों और यह व्यक्ति की स्वयं की सच्चाई पर निर्भर करता है – क्योंकि यदि व्यक्ति सच्चा न हो, यदि वह भगवान् से मिलन या भागवत् चेतना की प्राप्ति – जो व्यक्ति को भगवान् के अंदर या भगवान् के साथ निवास करने में समर्थ बनाती है – के स्थान पर अपने अहं के विषय में चिंतित हो या एक बड़ा योगी बनने, या एक अतिमानव बनने के विषय में अधिक चिंतित हो तो व्यक्ति में मिथ्या अथवा मिश्रणों का प्रवाह भर उठता है जिससे व्यक्ति मध्यवर्ती क्षेत्र की भूल-भुलैया या अपनी ही रची नाना प्रकार की कल्पनाओं के फेर में घूमता रहता है। यही सारे मामले का सच है।

तब 'क्ष' क्यों कहता है कि व्यक्ति को अनुभवों के पीछे न पड़कर केवल भगवान् से ही प्रेम करना तथा उन्हें ही खोजना चाहिए? इसका सीधा अर्थ यह है कि **तुम्हें अनुभवों को अपना प्रमुख लक्ष्य न बनाकर उन भगवान् को ही अपना साध्य बनाना होगा और यदि तुम ऐसा करो तो सच्चे सहायक अनुभवों को प्राप्त करने तथा भ्रांतिपूर्ण अनुभवों से बचने की अधिक संभावना रहेगी।** यदि व्यक्ति प्रधानतः अनुभवों की खोज में रहेगा तो उसका योग महज मानसिक, प्राणिक तथा सूक्ष्म भौतिक जगतों के निम्नतर विषयों अथवा गौण आध्यात्मिक वस्तुओं में लिप्तता मात्र बन सकता है, या यह वृत्ति मिश्रित अथवा पूर्ण-असत्यों या अर्द्ध-सत्यों की खलबली या उथल-पुथल को उतार ला सकती है जो आत्मा तथा भगवान् के बीच की बाधा बन सकती है। यह साधना का एक ठोस नियम है। परंतु इन सब नियमों तथा वक्तव्यों को मर्यादित रूप में तथा इनकी उपयुक्त सीमाओं में ही ग्रहण करना चाहिए, – इसका अर्थ

यह नहीं कि व्यक्ति सहायक अनुभवों का स्वागत न करे या उनका कोई मूल्य नहीं है। साथ ही, जब अनुभव की एक सटीक दिशा निर्धारित हो जाए, तो सदैव केंद्रीय लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, उसका अनुसरण पूर्णतः सम्मत है। स्वप्न या अंतर्दर्शन द्वारा प्राप्त सभी सहायक या पुष्टिकर सम्पर्कों, जिनके विषय में तुम बताते हो, का स्वागत करना चाहिए एवं स्वीकार करना चाहिए। उचित प्रकार के अनुभव सिद्धि में सहारा एवं सहायता होते हैं; वे सभी प्रकार से स्वीकार्य हैं।''[१०१]

***

''**सभी अंतर्दर्शनों का एक-न-एक प्रकार का अर्थ होता है। अंतर्दर्शन की यह शक्ति योग के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है और इसका निषेध नहीं करना चाहिए, यद्यपि यह सबसे महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है – क्योंकि सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है चेतना का परिवर्तन।** इस अंतर्दर्शन की शक्ति की ही भाँति अन्य सभी शक्तियों को बिना किसी आसक्ति के योग के अंग और सहायक के रूप में विकसित करना चाहिये।''[१०२]

***

''अंतर्दर्शन अनिवार्य नहीं हैं – जब वे उचित प्रकार के हों तो सहायक होते हैं – बस इतना ही।''[१०३]

***

''अंतर्दर्शन सभी स्तरों से आते हैं और सब प्रकार के होते हैं और भिन्न मूल्यों के होते हैं। कुछ अतीव मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण होते हैं, अन्य मन या प्राण की लीलारूप होते हैं और केवल अपने विशेष प्रयोजन के लिए ही उपयुक्त होते हैं, अन्य मन तथा प्राणिक स्तर की

उत्पत्तियाँ होते हैं जिनमें से कुछ में सत्यता हो सकती है, जबकि अन्य मिथ्या और भ्रामक होते हैं, या वे उस स्तर की अपनी एक प्रकार की कारीगरी हो सकते हैं। प्रारंभिक यौगिक चेतना, अर्थात् आंतर मन, आंतर प्राण तथा आंतर भौतिक चेतना के विकास के लिए या जगत्-विषयक गुह्य-ज्ञान के लिए इनका अत्यधिक महत्त्व हो सकता है। अंतर्दर्शन जो यथार्थ हैं वे आध्यात्मिक उत्कर्ष में सहायता कर सकते हैं, मेरा तात्पर्य है, वे अतंर्दर्शन जो हमें आंतरिक यथार्थकताओं को दिखाते हैं: उदाहरण के लिए, एक आंतरिक 'यथार्थ' अंतर्दर्शन में व्यक्ति का कृष्ण से मिलन हो सकता है, वह उनसे बातचीत कर सकता है एवं उनकी वाणी सुन सकता है, सर्वथा उतने ही वास्तविक रूप में जैसा कि बाह्य जगत् में होता है। महज उनकी छवि देखना वही बात नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे दीवार पर लगे उनके चित्र को देखना और उनसे प्रत्यक्ष मिलन एक समान नहीं है। परंतु दीवार पर लगे चित्र का आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुपयोगी होना आवश्यक नहीं है। हम केवल यही कह सकते हैं कि व्यक्ति को इस विशेष-प्रतिभा तथा जो कुछ यह हमें दिखाती है, उसके साथ अत्यधिक आसक्त न होना चाहिये, पर साथ ही इसे तुच्छ समझने की भी आवश्यकता नहीं है। इसकी अपनी उपयोगिता होती है और कभी-कभी अत्यधिक आध्यात्मिक उपयोगिता होती है। किंतु, स्वभावतया ही, यह परम् नहीं है – परम् वस्तु है भगवान् का साक्षात्कार, उनसे सम्पर्क, ऐक्य, भक्ति, प्रकृति का परिवर्तन, आदि।"[१०४]

***

"आत्मपरक (subjective) अंतर्दर्शन उतने ही सत्य हो सकते हैं जितनी कि बाह्य वस्तुनिष्ठ दृष्टि – भेद केवल इतना है कि

इनमें से एक तो स्थूल जगत् में वास्तविक पदार्थों के होते हैं, जबकि दूसरे अन्य स्तरों के, सूक्ष्म-भौतिक स्तर तक के वास्तविक पदार्थों के होते हैं; यहाँ तक कि प्रतीकात्मक अंतर्दर्शन भी यथार्थ होते हैं जब तक कि वे यथार्थताओं के प्रतीक हों। यहाँ तक कि सूक्ष्म-जगत् में स्वप्नों की भी यथार्थता हो सकती है। अंतर्दर्शन तभी मिथ्या होते हैं जब वे काल्पनिक मानसिक रचनाएँ मात्र हों और किसी ऐसी चीज के द्योतक न हों जो सत्य है या था या सत्य होने वाला हो।

अंतर्दर्शन की यह शक्ति कभी-कभी बिना किसी विकसित किये जाने के परिश्रम के सहज और स्वाभाविक रूप से ही होती है, कभी-कभी यह अपने-आप जागृत होकर प्रचुर हो जाती है, या फिर विकसित होने के लिए थोड़े ही अभ्यास की अपेक्षा रखती है; **यह कोई आवश्यक रूप से आध्यात्मिक उपलब्धि का लक्षण नहीं है, परंतु प्रायः जब योग के अभ्यास से कोई अंतर में प्रवेश करने अथवा आंतरिक जीवन व्यतीत करने लगता है तब न्यूनाधिक मात्रा में अंतर्दर्शन की शक्ति जागृत होती है; किंतु ऐसा सर्वदा सुगमता से नहीं होता, विशेषकर तब जब व्यक्ति बहुत अधिक बुद्धि में या बाह्य प्राणिक चेतना में रहने का अभ्यस्त रहा हो।** मेरा अनुमान है कि जिसके विषय में तुम सोच रहे हो वह दर्शन है, भक्त को भगवान् का आत्म-प्रकटन; किंतु वह भिन्न है, यह है उनकी उपस्थिति का अनावरण, स्थायी या अस्थायी, और यह अंतर्दर्शन के रूप में आ सकता है या **यह उनकी उपस्थिति के घनिष्ठ आभास के रूप में, जो उनके दर्शन अथवा उनसे बहुधा या सतत् संलाप से भी अधिक प्रगाढ़ होता है; ऐसा सत्ता के अपनी आंतरिक सत्ता में गहरा पैठने से और चेतना के विकास द्वारा या भक्ति की**

प्रगाढ़ता में अभिवृद्धि द्वारा होता है। जब बढ़ती हुई तथा तन्मयकारी भक्ति द्वारा बाह्य चेतना की ऊपरी सतह पर्याप्त रूप से टूट जाती है तब संपर्क साधित होता है।''[१०५]

***

''जब अंतर्दर्शन हो रहे थे तब उन्हें रोक कर उसने भूल की। अंतर्दर्शन और मतिभ्रम एक चीज नहीं हैं। भौतिक मन से परे चेतना के उच्चतर लोकों पर अंतर्दृष्टि एक खुला द्वार है जो बृहत्तर सत्य एवं अनुभव को प्रवेश कराकर मन पर क्रिया करने का सुअवसर प्रदान करता है। यही एकमात्र या सबसे महत्त्वपूर्ण द्वार नहीं होता, परंतु अधिकांश के लिए न सही पर बहुतों के लिए यह सबसे अधिक शीघ्रतया प्रस्तुत रहता है और एक शक्तिशाली सहायक सिद्ध हो सकता है। बुद्धि-प्रधान व्यक्तियों को यह उतनी सहजता से नहीं मिलता जितना कि प्रबल प्राणशक्ति वाले अथवा भावप्रधान तथा कल्पना-प्रधान व्यक्तियों को। यह सत्य है कि मानव मन के अन्य प्रत्येक कार्यक्षेत्र की भाँति अंतर्दृष्टि का क्षेत्र भी एक मिश्रित जगत् है और उसमें केवल सत्य ही नहीं अपितु बहुत अर्ध-सत्य एवं मिथ्या भी है। यह भी सत्य है कि अधीर और अविवेकी व्यक्ति का उसमें प्रवेश विभ्रम, भ्रामक प्रेरणाएँ और मिथ्या ध्वनियाँ ला सकता है, और ऐसे में उन लोगों से निश्चित मार्गदर्शन प्राप्त करना अधिक सुरक्षित होता है जो जानते हैं तथा जिन्हें आध्यात्मिक एवं चैत्य अनुभव प्राप्त हैं। व्यक्ति को इस क्षेत्र की ओर शांत भाव से तथा विवेकपूर्वक देखना चाहिए, किंतु द्वार बंद करने तथा किसी एक या दूसरे अतिभौतिक अनुभवों को वर्जित करना स्वयं को सीमित करना तथा आंतरिक विकास की प्रक्रिया को रोकना है।''[१०६]

***

"बाह्य चेतना और अंतः-सत्ता के बीच के आवरण का भेदन योग की निर्णायक गतियों में से एक है। क्योंकि योग का अभिप्राय है भगवान् से ऐक्य, पर साथ ही इसका अभिप्राय है पहले अपनी अंतः-सत्ता और उसके बाद अपनी ऊर्ध्वस्थित उच्चतर सत्ता के प्रति जागरण – एक अंतर्मुख गति और एक उर्ध्वमुख गति। **वस्तुतः केवल अंतः-सत्ता के जागृत होने तथा सम्मुख आ जाने पर ही तुम भगवान् से युक्त हो सकते हो।** बाह्य भौतिक मनुष्य तो केवल एक यंत्रात्मक व्यक्तित्व मात्र होता है और केवल अपनी सामर्थ्य से ही यह मिलन प्राप्त नहीं कर सकता – वह केवल यदा-कदा स्पर्श, धार्मिक भावनाएँ, अपूर्ण संदेश ही प्राप्त कर सकता है। और ये भी बाह्य चेतना से नहीं अपितु हमारे अंदर जो विद्यमान है उससे आते हैं।

दो परस्पर पूरक गतियाँ होती हैं; एक में अन्तः-पुरुष सम्मुख आ जाता है और अपनी सामान्य प्रवृत्तियों को बाह्य चेतना पर अंकित करता है जिसके लिए ये प्रवृत्तियाँ असामान्य एवं अस्वाभाविक होती हैं, दूसरी गति है बाह्य चेतना से पीछे हट जाना, आंतरिक स्तरों में भीतर चले जाना, अपने अंतः-पुरुष के जगत् में प्रवेश करना और अपनी सत्ता के प्रच्छन्न भागों में जागृत होना। जब एक बार वह प्रवेश प्राप्त कर लिया जाए तो तुम यौगिक, आध्यात्मिक जीवन के लिए चिह्नित हो और तुम पर लगी मुहर को कोई मिटा नहीं सकता।

यह अन्तर्मुख गति अनेकानेक भिन्न तरीकों से होती है और कभी-कभी ऐसा जटिल अनुभव होता है जिसमें पूर्ण प्रवेश के सभी लक्षण एक साथ समाहित होते हैं। भीतर जाने या गहरे तल में जाने का आभास होता है, आंतरिक गहराइयों की ओर गति का आभास होता है;

प्रायः अंगों की निःस्तब्धता, सुखद संवेदनशून्यता और अकड़न अनुभव होती है। यह ऊपर से ऊर्जा के दबाव में चेतना का शरीर से पीछे हटकर भीतर जाने का सूचक है, – वह दबाव शरीर को आंतरिक जीवन के अचल आधार के रूप में या एक प्रकार के दृढ़ एवं स्थिर सहज आसन के रूप में स्थितिशील कर देता है। लहरों का ऊपर उठकर सिर की ओर आरोहण करने का आभास होता है जो बाह्य चेतना-शून्यता और आंतरिक जागृति लाता है। यह है आधारस्थ निम्नतर चेतना का ऊर्ध्वस्थित महत्तर चेतना से मिलने के लिए आरोहण। यह गति कुण्डलिनी जागरण की उस गति के समरूप है जिस पर तांत्रिक पद्धति में इतना अधिक बल दिया गया है, शरीर में कुण्डलित तथा प्रसुप्त शक्ति का मेरुदण्ड तथा चक्रों एवं ब्रह्मरंध्र से होते हुए ऊपर भगवान् से मिलने के लिए आरोहण। हमारे योग में ऐसी विशिष्ट विधि नहीं है वरन् संपूर्ण निम्नतर चेतना का कभी तो धाराओं या तरंगों के रूप में, कभी कम मूर्त्त रूप में सहज ऊर्ध्व-प्रवाह और वहीं दूसरी तरफ भागवत् चेतना व उसकी शक्ति का देह में अवतरण है। इस अवतरण का अनुभव स्थिरता व शांति, बल और शक्ति, प्रकाश, हर्ष और आनंदातिरेक, विशालता, स्वतंत्रता एवं ज्ञान, भागवत् सत्ता या उपस्थिति के अंतः-प्रवाह के रूप में होता है – कभी इनमें से किसी एक का, कभी इनमें से कई सारों या सभी का एक साथ अंतःप्रवाह होता है। आरोहण की गति के भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं; यह चेतना को मुक्त कर सकता है जिससे व्यक्ति स्वयं को देह में नहीं वरन् उससे ऊपर अनुभव करता है या विस्तृतता में इतना व्यापक हुआ अनुभव करता है जिसमें देह या तो लगभग अस्तित्व शून्य हो जाती है या व्यक्ति के मुक्त विस्तार में महज एक बिन्दुमात्र रह जाती है। यह सत्ता को या सत्ता के किसी भाग को शरीर से बाहर जाकर अन्यत्र विचरण करने

की सामर्थ्य प्रदान कर सकता है, और इस क्रिया के साथ-साथ प्रायः एक प्रकार की आंशिक या फिर पूर्ण समाधि होती है। या, इसका परिणाम हो सकता है चेतना का सशक्तिकरण, जो कि अब देह और बाह्य प्रकृति की आदतों से और अधिक सीमित नहीं रहती, जिससे कि वह भीतर जाए, अंतर्मन की गहराइयों में, अंतःप्राण, अंतः (सूक्ष्म) भौतिक तथा चैत्य में प्रवेश करे, अपनी अंतरतम चैत्य-सत्ता या अपने अंतर्मनोमय, प्राणमय एवं सूक्ष्म अन्नमय पुरुष के बारे में सचेतन हो और प्रकृति के इन भागों से संबद्ध प्रदेशों, स्तरों एवं लोकों में विचरण एवं निवास करे। निम्नतर चेतना का बार-बार और निरंतर आरोहण ही मन, प्राण एवं शरीर को अतिमानसिक स्तर पर्यन्त सभी उच्चतर स्तरों का संस्पर्श पाने और उनकी ज्योति, शक्ति एवं प्रभाव से परिपूरित होने के योग्य बनाता है। साथ ही, भागवत् चेतना एवं उसकी शक्ति का बारंबार तथा निरंतर अवरोहण ही समस्त सत्ता तथा सम्पूर्ण प्रकृति के रूपांतर का साधन है। जब एक बार यह अवरोहण स्वाभाविक बन जाता है, तब भागवत् बल, माताजी की शक्ति केवल ऊपर से या आवरण के पीछे से ही नहीं अपितु सचेतन रूप से स्वयं आधार में कार्य करने लगती है, तथा उसकी कठिनाइयों तथा संभावनाओं से कार्य-व्यवहार करती है और योग को आगे चलाती है।

अंत में आता है सीमा का लंघन। वह चेतना का प्रसुप्त या लुप्त हो जाना नहीं है, चूँकि चेतना पूरी समय वहाँ रहती है; केवल वह बाह्य तथा भौतिक से हटकर, बाह्य पदार्थों से बंद होकर, सत्ता के आंतरिक चैत्य तथा प्राणमय भाग में पीछे आ जाती है। वहाँ वह अनेक अनुभवों में से गुजरती है जिनमें से कुछ जागृत अवस्था में भी हो सकते हैं और होने भी चाहिये; दोनों ही गतियाँ आवश्यक हैं, अंतः-सत्ता का बाहर सामने की ओर आना और साथ ही चेतना का अंतरात्मा तथा प्रकृति के विषय में

सचेतन होने के लिए भीतर जाना। परंतु अनेक उद्देश्यों के लिए अंतर्मुखी गति अपरिहार्य है। कारण, इसका प्रभाव होता है इस बाह्य इन्द्रिय चेतना तथा उस आंतरिक सत्ता, जिसे बाह्य चेतना अभिव्यक्त करने का बहुत ही आंशिक प्रयास करती है, के बीच की दीवार को तोड़ना या कम-से-कम उसमें मार्ग खोलकर उसमें प्रवेश पाना, और भविष्य में समस्त संभावनाओं, अनुभव, नव-सत्ता तथा नव-जीवन, जो इस क्षुद्र, अति-अंध तथा सीमित भौतिक व्यक्तित्व के आवरण के पीछे अवरुद्ध पड़ा है – जिसे भ्रांतिवश मनुष्य अपना सब कुछ समझते हैं – की अनंत विपुलराशि के विषय में सचेतन बोध को संभव बनाना। आंतरिक प्रवेश और इस अंतर्जगत् से जागृत अवस्था की ओर लौटने के बीच के काल में इसी गंभीरतर, समग्रतर एवं समृद्धतर चेतना का प्रांरभ और सतत् विस्तार साधित होता है।

साधक को समझ लेना होगा कि ये अनुभव महज कल्पना-मात्र या स्वप्न नहीं हैं अपितु यथार्थ घटनाएँ हैं, क्योंकि जब ये केवल गलत या भ्रामक या विरोधी ढंग की रचनाएँ भी हों – जैसा कि प्रायः होता है – तब भी रचनाओं के तौर पर इनकी अपनी शक्ति होती है और इनका निषेध या उन्मूलन करने के लिए इन्हें समझना होगा। प्रत्येक आंतरिक अनुभव अपने ही ढंग से पूर्णतया वास्तविक होता है – यद्यपि भिन्न अनुभवों के मूल्य अतीव भिन्न-भिन्न होते हैं, – किंतु अंतरात्मा एवं आंतर-जगतों के सत्य से युक्त होने के कारण वे वास्तविक होते हैं। यह समझना भूल है कि हम केवल भौतिक रूप से बाह्य मन और प्राण के द्वारा ही जीते हैं। हम हर समय चेतना के अन्य स्तरों पर भी जी रहे और कार्य कर रहे हैं, वहाँ दूसरों से मिल रहे और उन पर प्रभाव डाल रहे हैं, और हम वहाँ जो कार्य, अनुभव एवं विचार करते हैं, जो शक्ति संचय करते हैं तथा जो परिणाम तैयार करते हैं उनका हमारे बाह्य जीवन पर, हमारे बिना जाने ही,

अपरिमेय महत्त्व एवं प्रभाव होता है। वह सारे का सारा बाहर प्रकट नहीं होता और जो होता भी है वह भौतिक सत्ता में अन्य रूप धारण कर लेता है – यद्यपि कभी-कभी पूर्ण सारूप्य होता है; परंतु यह स्वल्पांश भी हमारी बाह्य सत्ता का आधार होता है। हम भौतिक जीवन में जो कुछ बनते, करते या भोगते हैं वह सब हमारे भीतर आवरण के पीछे तैयार होता है। अतएव जीवन के रूपांतर को लक्ष्य रखने वाले योग के लिए यह परम् महत्त्व का है कि वह इन स्तरों के भीतर होने वाली क्रिया के विषय में सचेतन हो, वहाँ इनका स्वामी बने और उन गुह्य शक्तियों को अनुभव करने, जानने तथा उनसे व्यवहार करने योग्य बने जो हमारी नियति और हमारे आंतर एवं बाह्य विकास या ह्रास को निर्धारित करती हैं।

यह उनके लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जो भगवान् से ऐक्य साधना चाहते हैं जिसके बिना रूपांतर असंभव है। यदि तुम अपनी बाह्य सत्ता से आबद्ध, स्थूल मन और उसकी क्षुद्र चेष्टाओं से बँधे रहोगे तो तुम्हारी अभीप्सा चरितार्थ नहीं हो पाएगी। **बाह्य सत्ता आध्यात्मिक संवेग का मूल नहीं होती, वह तो केवल पर्दे के पीछे से प्राप्त अंतः प्रेरणा की अनुगामिनी होती है। तुम्हारे भीतर की वह आंतरिक चैत्य-सत्ता ही है जो भक्त है, जो ऐक्य और आनंद की अन्वेषक है, और जो बाह्य प्रकृति के लिए उसके अपने बल पर असंभव है वह पूर्णतः संभव बन जाता है जब एक बार यह अवरोध गिर जाता है तथा अन्तरात्मा सम्मुख आ जाती है।** क्योंकि, जिस क्षण यह प्रबल रूप से सामने आ जाती है या चेतना को प्रबलता से अपने में खींचती है, शांति, आनंदातिरेक, स्वतंत्रता, विशालता, प्रकाश एवं उच्चतर ज्ञान की ओर उद्घाटन स्वाभाविक, सहज होने लगते हैं और प्रायः तुरन्त ही होने लगते हैं।

एक बार किसी न किसी गति से आवरण दूर होते ही तुम्हें पता लगने लगता है कि योग के लिए आवश्यक सभी प्रक्रियाएँ और गतियाँ तुम्हारी पहुँच के भीतर हैं और वे वैसी कठिन या असंभव नहीं जैसी वे बाह्य मन को प्रतीत होती हैं। तुम्हारे अन्तरतम चैत्य-पुरुष में एक योगी एवं एक भक्त पहले से ही विद्यमान है और यदि वह पूर्ण रूप से प्रकट होकर नेतृत्व ग्रहण कर सके तो, तुम्हारे बाह्य जीवन का आध्यात्मिक परिवर्तन पूर्वनियत एवं अटल हो जाता है। जो साधक प्रारंभ में ही सफलता लाभ करता है उसका यौगिक एवं आध्यात्मिक गहन अंतर्जीवन पहले से ही अंतरात्मा द्वारा गठित हुआ रहता है। वह केवल किसी ऐसी प्रबल बाह्य प्रवृत्ति के कारण ही ढका होता है जिसकी ओर हमारा चिंतनात्मक मन और हमारे निम्नतर प्राणमय भाग शिक्षा तथा अतीत कर्मों के द्वारा झुक जाते हैं। इस **बहिर्मुख झुकाव को ठीक करने और आवरण हटाने के लिए ही तो व्यक्ति को सख्ती के साथ योगाभ्यास करने की आवश्यकता होती है**। एक बार जब अंतः-पुरुष प्रबल रूप से अभिव्यक्त हो जाता है, चाहे अंतर्गमन की प्रक्रिया से हो या बहिर्गमन की, तो वह अपने बल को पुनः प्रतिष्ठित करके अपने पथ को प्रशस्त कर लेता है और अंततः अपने राज्य को अधिगत कर लेता है। इस प्रकार का उपक्रम उस चीज का चिह्न है जो बाद में बहुत बड़े पैमाने पर होने वाली है।''[१०७]

***

''**अनुभव... सत्य तक पहुँचने का एक माध्यम है। किंतु अनुभव एक चीज है और उसकी अभिव्यक्ति दूसरी। तुम फिर तर्कशक्ति को अनुभव के ऊपर सच्चे न्यायाधीश की भाँति बैठा रहे हो,**

जबकि वह तर्क शक्ति से परे है। तर्क शक्ति केवल अभिव्यक्ति के बारे में परख कर सकती है। जब लोग किसी अनुभव के इस या उस पक्ष पर भिन्न-भिन्न बल देते हैं या भिन्न-भिन्न मानसिक वरीयता रखते हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि अनुभव अपने आप में निराधार है। केवल जब तुम किसी अनुभव को मानसिक भाषा में ढालना चाहो तो भेद पैदा होते हैं क्योंकि जैसे ही तुम इसे मानसिक सूत्रों में ढालते हो तुम इसे सीमित कर देते हो। यदि तुम पाओ कि अनुभवों में भी भेद है तो **तुम्हें एक के बाद एक अनुभव की राशि को जोड़ना होगा जब तक कि तुम उस सर्वसमावेशी अनुभव तक न पहुँच जाओ जिसमें अन्य सभी को अपना स्थान मिल जाता है।**

सत्य असीम है और उसके अनगिनत पक्ष हैं। तर्कशक्ति के प्रत्येक निर्णय के अंदर उसका कुछ सत्य है और हमें तर्कशक्ति की उस विशेष संरचना के पीछे उस चीज को खोजना होगा जो मूलभूत हो। परंतु जब तर्कशक्ति यह कहती है कि केवल उसी विशिष्ट निर्णय में सम्पूर्ण सत्य समाहित है जिस तक वह आई है, तो यह गलत है। **वह जो अनुभव के पीछे है, वह परम् सत्ता है और परम् सत्ता को तर्कशक्ति द्वारा नहीं जाना जा सकता।**

जब तुम किसी आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन करना चाहो तो तुम मानसिक शब्दावली प्रयोग में लाने को बाध्य होते हो जो बिल्कुल अपर्याप्त होती है। इसीलिए वेदान्ती कहते हैं कि मन तथा वाणी सत्य को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। फिर भी तुम किसी प्रकार कुछ तो अभिव्यक्त कर सकते हो जब तक कि तुम अधिमन तक के स्तरों से कार्य-व्यवहार करो। परंतु जब तुम अतिमानस में प्रवेश करते हो, तब यह लगभग

असंभव है और यदि तुम परम् सत्ता की ओर और ऊपर बढ़ो, तो यह असंभव है।''[१०८]

४. साधना की प्रक्रिया – मार्ग पर होने वाले अनुभव तथा उनका मूलभूत औचित्य

''एक बार यदि तुम भगवान् की ओर यह कहते हुए मुड़ते हो, 'मैं आपका होना चाहता हूँ।' और भगवान् ने कह दिया 'हाँ', तो सम्पूर्ण जगत् तुम्हें उनसे अलग नहीं रख सकता। जब केंद्रिय सत्ता ने अपना समर्पण कर दिया है तो मुख्य कठिनाई दूर हो गई। बाह्य सत्ता एक परत की तरह है। साधारण लोगों में यह परत इतनी कठोर और मोटी होती है कि वे अपने अंदर स्थित 'भगवान्' के प्रति सचेतन नहीं होते। यदि एक बार, चाहे क्षण भर के लिए ही क्यों न हो, आंतरिक सत्ता ने यह कह दिया है, 'मैं प्रस्तुत हूँ और मैं तुम्हारा हूँ', तो यह एक प्रकार का सेतु निर्मित किया जा चुका है और धीर-धीरे यह बाहरी परत लगातार पतली होती जाती है जब तक कि दोनों भाग पूर्ण-रूप से नहीं मिल जाते तथा आंतरिक और बाह्य सत्ता एक नहीं हो जाते।''[१०९]

(i) मूल सिद्धांत

''...**कुछ भी असंभव नहीं है। यह तो *हम* ही हैं जो स्वयं पर सीमाएँ आरोपित कर लेते हैं।** हम हर समय कहते रहते हैं, ''वह बात संभव है, वह दूसरी असंभव है, हाँ यह किया जा सकता है, वह नहीं किया जा सकता; अरे! हाँ यह सत्य है, यह संभव है, यह तो किया भी गया है, परंतु वह, वह तो असंभव है।'' *हम* ही हैं जो हर समय स्वयं को दासों की भाँति अपनी तथा सीमाओं की कैद में, हमारी मूर्खतापूर्ण, संकुचित

और अज्ञानपूर्ण समझ में जकड़ देते हैं जो जीवन के नियमों के विषय में कुछ नहीं जानती। जीवन के नियम *बिलकुल* वैसे नहीं हैं जैसा कि तुम उन्हें समझते हो, न ही वैसे जैसे अधिकांश बुद्धिमान लोग सोचते हैं। वे सर्वथा भिन्न हैं। मार्ग पर कदम रखने पर, विशेषकर पहला कदम रखते ही व्यक्ति जानना शुरू कर देता है।''[११०]

***

''...जब तुम योग मार्ग पर हो, मैंने ऐसा कहा है – मैं अभी ऐसा कह रही थी – **जब तुम पथ पर होते हो, तो कभी भी उसका परित्याग न करो। कुछ प्रतीक्षा करो, पथ को स्वीकार करने से पूर्व तुम चाहो उतनी देर संकुचा सकते हो; परंतु जिस क्षण से तुम उस पर पदार्पण करो, तो बस, उसे छोड़ो मत। क्योंकि इसके परिणाम हैं जो अनेक जन्मों तक असर डाल सकते हैं। यह बहुत ही गंभीर है।** इसीलिए सब कुछ के बावजूद योग पथ पर प्रवेश करने के लिए मैं कभी किसी को बाध्य नहीं करती। यहाँ पर तुम बच्चे काफी संख्या में हो: पर मैंने कभी किसी से (यह पथ अपनाने के लिये) नहीं कहा – केवल उन्हीं से कहा है जिन्होंने आकर मुझसे कहा है: 'मैं इसे चाहता हूँ।' उन्हें भी, जब तक कि मैं उनके विषय में पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं हो जाती कि क्योंकि यह उनकी नियति में लिखा है कि वे यहाँ आये ही इसलिये हैं, मैं हमेशा यही कहती हूँ: 'इसके बारे में सोच लो, पूरा-पूरा निश्चय कर लो कि तुम यही चाहते हो, कुछ और नहीं।' और जब वे सोच-विचार लेते हैं और निश्चय कर लेते हैं तो बस, समाप्त। उसके बाद उन्हें इधर-उधर न भटकना चाहिये, उन्हें सीधे लक्ष्य तक जाना चाहिये। मेरा अभिप्राय है, उसके बाद तुम्हें पथ का त्याग नहीं करना चाहिए। तुम्हें हर मूल्य पर आगे

बढ़ना चाहिये और यह प्रयास करना चाहिये कि बार-बार रुकें नहीं, **क्योंकि चलते रहना, चाहे कठिन क्यों न हो, फिर रुक कर नये सिरे से चलने की अपेक्षा अधिक आसान है। मार्ग पर चलते रहने की अपेक्षा, फिर से चलने के लिये बहुत अधिक श्रम की आवश्यकता होती है।** और फिर, तर्कसंगत दृष्टि से, मुझे यह कहना तो नहीं चाहिये, जो लोग यहाँ हैं उन सबको मैं पहले ही चेतावनी दे चुकी हूँ: 'कभी भी अपनी समस्त दैनिक परिस्थितियों को लापरवाही से न लो; जीवन की सभी छोटी-मोटी चीजें, सभी छोटी-मोटी घटनाएँ; कभी इन सब को हल्के में न लो।' कभी अपनी निम्न प्रकृति के द्वारा प्रतिक्रिया न करो। **जब कभी तुमसे कुछ करने या न करने के लिये कहा जाय – और यह तुमसे बहुत बार नहीं कहा जाता, किंतु जब कभी कहा जाय, तो उस पर प्रतिक्रिया करने से पहले जरा सोच लो, अपने अंदर उस भाग को ढूँढ़ने का प्रयास करो जो प्रतिक्रिया करता है।** तुम्हारे अंदर जो सबसे सामान्य-सा भाग है उसी के द्वारा बिना बात ऐसे ही प्रतिक्रिया न करो। अपने अंदर प्रवेश करो, अपने अन्दर के सर्वोत्तम भाग को पाने का प्रयास करो और उसके अनुसार प्रतिक्रिया करो। *यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।*

कुछ लोग हैं जो बरसों तक समय व्यर्थ करते हैं, क्योंकि उन्होंने यह नहीं किया होता। दूसरे हैं जो उड़ान भरते प्रतीत होते हैं, वे इतना तेज आगे जाते हैं, क्योंकि वे इस ओर ध्यान देते हैं। और जो यह नहीं करते, वे सदा ही सारा दोष भगवान् पर डालते हैं। **वे भगवद्-कृपा को दोष देते हैं। वे कृपा से कहते हैं: 'तुम्हीं हो जिसने मुझे धोखा दिया, तुमने ही मुझे संकट में डाल दिया है, तुम्हारे कारण ही मुझे ठोकर लगी है, तुम ही**

दानव हो', वे ठीक इन्हीं शब्दों में तो नहीं कहते परंतु उनके विचार इसी तरह के होते हैं। और फिर, स्वभावतः, वे अपनी स्थिति को और भी बिगाड़ लेते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी कठिनाई में जो सहायता मिल सकती थी, उसे भी वे धकेल देते हैं। तो बात ऐसी है।

मैं तुम्हें और बहुत-सी बातें बता सकती हूँ, किंतु वे धीरे-धीरे आएँगी। बहरहाल, यदि तुम अपने अंदर एक दृढ़-विश्वास, यह सरल और निर्विवाद भरोसा रख सको जो तर्क नहीं करता, और यह भाव कि .....हाँ, सचमुच यह भाव रख सको कि तुम्हारे लिये जो कुछ किया जा रहा है – चाहे वह कैसा भी क्यों न दिखता हो – वह तुम्हें अपने लक्ष्य की ओर ले जाने और कठिनाईयों में से जल्दी-से-जल्दी बाहर निकालने के लिये सबसे अच्छा है...यदि तुम इसे अपने अंदर सुदृढ़ बनाये रख सको तो तुम्हारा मार्ग अतिशय रूप से अधिक सरल हो जायेगा।''[१११]

***

''यह महाभय है जो मनुष्य जाति को घेरे रहता है – लोक और परलोक में पाप और पीड़ा का भय, जिस संसार के सत्य स्वभाव के विषय में वह अनभिज्ञ है उस संसार में भय, उस ईश्वर का भय जिसकी सत्य सत्ता को भी उसने नहीं देखा है और न जिसकी विश्वलीला के अभिप्राय को ही समझता है। मेरा योग तुझे इस महाभय से तार देगा और इस योग का स्वल्पमात्र साधन भी तुझे मुक्ति दिला देगा। एक बार जहाँ तुमने इस मार्ग पर चलना शुरु किया कि तुम देखोगे कि कोई कदम व्यर्थ नहीं रखा गया; प्रत्येक छोटी-से-छोटी गति भी एक प्राप्ति होगी; तुम्हें ऐसी कोई बाधा नहीं मिलेगी जो तुम्हारी प्रगति में रोड़ा अटका

सके। एक निर्भीक और परम् प्रतिज्ञा और ऐसी कि जिस पर सभी जगह आक्रांत और ठोकर खाता भयभीत और शंकित मन सहज ही दृढ़ विश्वास नहीं कर सकता; इस प्रतिज्ञा का व्यापक और पूर्ण सत्य भी तब तक स्पष्ट ही नहीं होता जब तक गीता के प्रारंभिक वचनों के साथ उसका अंतिम वचन भी न पढ़ें :-

सर्वधमान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥

अर्थात् समस्त धर्मों का परित्याग कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, चिंता मत कर।''[११२]

***

''दिव्य आत्मा लोगों या सामाजिक ऊँच-नीच या मर्यादा का आदर नहीं करता: सभी बिना किसी मध्यवर्ती या बंधनकारी शर्त के सीधे उसके पास जा सकते हैं। **दिव्य गुरु कहते हैं, ''यदि कोई महान् दुराचारी भी अनन्य और सम्पूर्ण प्रेम के साथ मेरी ओर मुड़ता है, तो उसे साधु ही समझना चाहिए क्योंकि उसमें उद्यम की स्थिर संकल्पशक्ति एक सच्ची और पूर्ण संकल्पशक्ति है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वती शान्ति लाभ करता है।'' दूसरे शब्दों में, पूर्ण आत्म-दान का संकल्प आत्मा के सभी द्वार पूरे खोल देता है और प्रत्युत्तर में मनुष्य के अंदर भगवान् का पूर्ण अवतरण और आत्म-दान ले आता है, और वह तत्क्षण हमारे भीतर की सभी चीजों को निम्नतर प्रकृति से आध्यात्मिक (परा) प्रकृति में द्रुत रूपांतर द्वारा दिव्य जीवन के विधान के अनुरूप पुनर्गठित तथा समाविष्ट कर लेता**

है। आत्म-दान का संकल्प अपनी शक्ति द्वारा ईश्वर और मनुष्य के बीच के पर्दे को हठात् दूर कर देता है; प्रत्येक भूल को मिटा देता है तथा प्रत्येक विघ्न-बाधा को नष्ट कर डालता है। जो लोग अपनी मानवी शक्ति के भरोसे ज्ञान-साधन या पुण्यकर्म अथवा कठोर आत्म-संयम द्वारा अभीप्सा करते हैं वे बड़े कष्ट से शाश्वत् की ओर आगे बढ़ पाते हैं; परंतु जीव जब अपने अहंकार तथा कर्मों को भगवान् को समर्पित कर देता है तब भगवान् स्वयं हमारे पास आते हैं और हमारा भार वहन कर लेते हैं। अज्ञानी को वे दिव्य ज्ञान का आलोक, दुर्बल को दिव्य-संकल्प का बल, पापात्मा को दिव्य-पवित्रता की मुक्ति, दुःखी को अनन्त आत्मसुख और आनंद ला देते हैं। उनकी दुर्बलता तथा उनके मानवी बल की लड़खड़ाहट से (कृपा में) कोई अंतर नहीं पड़ता। **'यह मेरी प्रतिज्ञा है', भगवान् की वाणी अर्जुन को कह उठती है, 'जो मुझसे प्रेम करता है उसका नाश नहीं होता।'** ...आध्यात्मिक जीवन में वे सब बाह्य भेद जिन्हें मनुष्य इतना अधिक मानते हैं, क्योंकि वे बहिर्मुख मन को बरबस अपनी ओर खींचते हैं, भागवत् ज्योति की समता और पक्षपातरहित शक्ति की सर्वशक्तिमत्ता के सामने समाप्त हो जाते हैं।''[११३]

***

''...अपने लंबे मानसिक श्रम के अंत में हम चाहे वह सब कुछ जान लें जो शाश्वत के विषय में कहा गया है, वह सब कुछ हस्तगत कर लें जो अनंत के विषय में सोचा जा सकता है और फिर भी सम्भव है कि हम उसे बिल्कुल भी न जान पाए हों। निःसंदेह यह बौद्धिक तैयारी किसी भी शक्तिशाली योग में प्रथम अवस्था हो सकती है, परंतु यह अनिवार्य नहीं है: यह कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसमें से गुजरना सब के

लिए आवश्यक हो या जिसके लिए सबको कहा जाए। कुछ को छोड़कर दूसरों के लिए योग असंभव होगा यदि चिंतनशील या ध्यानी बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान की बौद्धिक मूर्ति की प्राप्ति ही योग की अनिवार्य शर्त या अनिवार्य प्रारंभिक अवस्था हो। **ऊपर से आया प्रकाश अपना कार्य शुरू कर सकने के लिए हमसे मात्र जिस चीज की माँग करता है वह है आत्मा से आई पुकार और मन के भीतर पर्याप्त मात्रा में समर्थन। इस समर्थन की प्राप्ति बुद्धि में भगवान् के किसी आग्रही विचार द्वारा, क्रियाशील भागों में उसके अनुरूप संकल्प द्वारा, हृदय में एक अभीप्सा, श्रद्धा तथा आकांक्षा द्वारा हो सकती है।** यदि वे सब समस्वर होकर या एक-लयताल होकर न चल सकते हों तो इनमें से किसी एक को अग्रणी या प्रधान भी बनाया जा सकता है। विचार प्रारंभ में असमर्थ हो सकता है और होगा ही; अभीप्सा संकीर्ण और अपूर्ण हो सकती है; श्रद्धा अल्प प्रकाशित हो सकती है, यहाँ तक कि, ज्ञान की सुदृढ़ आधारशिला पर सुप्रतिष्ठित न होने के कारण डाँवाडोल, अनिश्चित तथा शीघ्र ही क्षीण हो सकती है; यही नहीं, प्रायः यह बुझ भी सकती है और उसे आँधीदार घाटी में मशाल की भाँति कठिनाई से पुनः प्रज्ज्वलित करने की आवश्यकता होती है। परंतु यदि एक बार भी अन्तर की गहराई से दृढ़-आत्मनिवेदन हो जाये, और आत्मा की पुकार के प्रति जागृति हो तो ये अपूर्ण चीजें भी दिव्य प्रयोजन के लिए पर्याप्त साधन हो सकती हैं। अतएव, ज्ञानी लोग ईश्वर की ओर मनुष्य की पहुँच के मार्गों को सीमित कर देने में सदा ही असहमत रहे हैं; वे उसके प्रवेश के लिए तंग-से-तंग द्वार, सब से नीची और सब से अँधेरी खिड़की तथा तुच्छ-से-तुच्छ प्रवेश-पथ भी बन्द नहीं करना चाहते। कोई भी नाम, कोई भी रूप, कोई भी प्रतीक, कोई भी अर्घ्य पर्याप्त समझा गया है यदि उसके साथ

आत्म-निवेदन (का भाव) हो; क्योंकि जिज्ञासु के हृदय में भगवान् अपने आप को जानते हैं और यज्ञ को स्वीकार कर लेते हैं।

पर फिर भी आत्म-निवेदन को अनुप्राणित करने वाली विचार-शक्ति जितनी महान् और विशाल होगी, साधक के लिए उतना ही उत्तम होगा; उसकी संसिद्धि संभवतः उतनी ही अधिक पूर्ण और प्रचुरतर होगी। यदि हमें पूर्ण योग के लिए प्रयत्न करना हो तो बेहतर होगा कि हम भगवान् के एक ऐसे विचार को लेकर चलें जो स्वयं पूर्ण हो।''[११४]

***

''...पूर्ण रूप से सच्चे बनो, अपने आप को धोखा देने का प्रयास मत करो, यह न कहो, 'मैं जो कर सकता था वह सब कर चुका हूँ।' **यदि तुम सफल नहीं होते हो तो इसका तात्पर्य है कि तुम वह सब नहीं कर रहे हो जो तुम कर सकते हो। क्योंकि, यदि तुम वास्तव में वह ''सब-कुछ'' करो जो तुम कर सकते हो तो तुम निश्चय ही सफल होओगे। यदि तुम में कोई दोष है जिससे तुम छुटकारा पाना चाहते हो और जो फिर भी बना रहता है और तुम कहते हो. ''मैं जो कुछ कर सकता था वह सब कर चुका।'' तो तुम निश्चित रूप से मान लो कि तुम्हें जो कुछ करना चाहिये था तुमने वह सब नहीं किया है। यदि तुमने किया होता तो तुम अवश्य ही विजयी हुए होते, क्योंकि जो कठिनाइयाँ तुम्हारे सामने आती हैं वे एकदम तुम्हारी शक्ति के अनुपात में ही होती हैं – तुम्हारे साथ ऐसा कुछ भी नहीं घट सकता जो तुम्हारी चेतना से संबद्ध न हो और जो कुछ तुम्हारी चेतना से संबद्ध है उस पर तुम प्रभुत्व प्राप्त कर सकते हो।** यहाँ तक कि जो चीजें और सुझाव बाहर से आते हैं वे भी तुम्हारी चेतना द्वारा दी गई सहमति के

अनुपात में ही तुम्हें स्पर्श कर सकते हैं और तुम अपनी चेतना पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए ही बने हो। यदि तुम कहते हो, ''मैं जो कुछ कर सकता था वह सब कर चुका हूँ और इस सब के उपरांत भी वह चीज बनी हुई है इसलिए मैं इसे छोड़ता हूँ। तो तुम इस बारे में निश्चित ही जान लो कि तुम्हें जो कुछ करना चाहिए था वह सब तुमने नहीं किया है। जब ''सब कुछ'' के बावजूद कोई दोष बना रहता है तो इसका अर्थ है तुम्हारी सत्ता में कोई ऐसी चीज छिपी हुई है जो अचानक उछल कर बाहर आ जाती है और उस क्षण तुम्हारे जीवन की बागडोर अपने हाथों में ले लेती है। इसलिए **करने के लिए बस एक ही चीज है और वह है जो छोटे-छोटे अन्धकारपूर्ण कोने तुम्हारे अन्दर छिपे हैं उनका पता लगाने में लग जाओ और यदि तुम उस अन्धकार पर सद्भाव की एक चिंगारी डाल दो तो वह ढह जाएगा, लुप्त हो जाएगा और जो तुम्हें असम्भव प्रतीत होता था वह न केवल संभव, सुसाध्य बन जाएगा अपितु वह किया जा चुका होगा।** इस तरह तुम एक पल में उस कठिनाई से छुटकारा पा सकते हो जिसने तुम्हें वर्षों तक उत्पीड़ित किया होगा। मैं तुम्हें इसके बारे में पूरी तरह आश्वस्त करती हूँ। यह केवल एक ही चीज पर निर्भर करता है कि तुम वास्तव में सच्चाई से उससे मुक्त होना चाहते हो और सभी चीजों के लिए, शारीरिक बीमारियों से लेकर बड़ी-से-बड़ी मानसिक कठिनाइयों तक के लिए यह ऐसा ही है। चेतना का एक भाग कहता है, 'मैं यह नहीं चाहता' परन्तु उसके पीछे ऐसी चीजों का एक ढेर छिपा रहता है जो कुछ नहीं कहतीं, स्वयं को प्रकट नहीं करतीं और जो – साधारणतया अज्ञानवश – चाहती हैं कि चीजें जैसी हैं वैसी ही बनी रहें; वे यह नहीं मानतीं कि किसी चीज से मुक्त होना आवश्यक है, वे मानती हैं कि प्रत्येक चीज जैसी है वह जगत् की अच्छी-से-अच्छी वस्तुओं में भी

श्रेष्ठतम है। जैसे कि वह महिला, जिसके साथ मेरे वे वार्तालाप हुए थे, कहा करती थी, 'ज्यों ही हम बदलने की चाह करते हैं त्यों ही समस्या शुरू हो जाती है।' फ्रांस के एक बहुत बड़े लेखक ने इसको दोहराया है और इसी आधार पर अपना मनपसंद सिद्धांत बना लिया : 'ज्यों ही तुम अपने-आपको पूर्ण बनाना चाहते हो वैस ही विपत्ति शुरू हो जाती है। यदि तुम स्वयं को पूर्ण न बनाना चाहो तो तुम्हारे ऊपर कोई विपत्ति नहीं आएगी!' मैं तुम्हें कह सकती हूँ कि यह बात एकदम गलत है। परंतु तुम्हारे अन्दर ठीक वैसी ही चीजें होती हैं जो चाहती हैं कि उन्हें एकदम अकेला छोड़ दिया जाए, किसी भी तरह छेड़ा न जाए: वे मानों कहती हैं: 'ओह! कैसे कष्टदायक हो तुम, हमें अकेला छोड़ दो।' ''[११५]

***

''ओह, सच्चा होना बहुत कठिन है...। इसीलिये आघात बढ़ते जाते हैं और कभी-कभी भयंकर हो जाते हैं, क्योंकि यही एकमात्र चीज है जो तुम्हारी मूढ़ता को तोड़ती है। यही विपदाओं का औचित्य है। जब तुम तीव्र रूप से कष्टपूर्ण स्थिति में होते हो, और जब तुम ऐसी चीज के समक्ष होते हो जो तुम्हें गहरे रूप से प्रभावित करती है, तभी वह तुम्हारी मूढ़ता को जरा-सा पिघलाती है। लेकिन जैसा कि तुमने कहा, जब कोई चीज पिघलती भी है तब भी कोई ऐसी छोटी-सी चीज तुम्हारे अंदर है जो जैसी-की-तैसी बनी रहती है। और इसीलिये यह इतने लंबे समय तक चलती है...

अपनी गहराइयों तक यह जानने के लिये कि हम *कुछ भी नहीं* हैं, कि हम *कुछ भी नहीं* कर सकते, कि हमारा अस्तित्व ही नहीं है, कि हम कुछ नहीं हैं, कि भागवत् 'चेतना' और 'कृपा' के बिना कोई सत्ता ही

नहीं है, कितने आघातों की आवश्यकता होती है। जिस क्षण तुम यह जान लेते हो, तो यह समाप्त हो जाती है; सारी कठिनाइयाँ चली जाती हैं। जब तुम इसे पूर्ण रूप से जान लो और कोई भी चीज ऐसी न हो जो इसका प्रतिरोध करे... किंतु उस क्षण तक...। और इसमें बहुत समय लगता है।''[११६]

(ii) प्रथम आवश्यकता

''चूँकि योग मूल रूप में अधिकांश मनुष्यों द्वारा गुजारे साधारण स्थूल तथा पाशविक जीवन से या अपेक्षाकृत कम ही लोगों द्वारा गुजारे अधिक बौद्धिक – परंतु फिर भी सीमित – जीवन से मुड़कर एक महत्तर आध्यात्मिक जीवन की ओर, भागवत् पथ की ओर उन्मुख होना है, (अतः) हमारी शक्तियों का प्रत्येक अंश जो स्वयं उस निम्नतर सत्ता के भाव में उसे सौंपा जाता है, वह हमारे उद्देश्य तथा हमारे आत्म-उत्सर्ग का प्रतिनिषेध होता है। वहीं दूसरी ओर, प्रत्येक ऊर्जा या क्रिया जो हम निम्नतर की अधीनता से पलटकर उच्चतर की सेवा में समर्पित कर दें वह उतने अंश में पथ पर अर्जित लाभ होता है, उतना भाग उन शक्तियों के हाथ से छीन लिया जाता है जो हमारी प्रगति का विरोध करती हैं। इसी आमूल-चूल परिवर्तन की कठिनाई योगमार्ग की समस्त विघ्न-बाधाओं का मूल है। क्योंकि हमारी संपूर्ण प्रकृति और उसकी परिस्थितियाँ, हमारी समस्त व्यक्तिगत एवं विश्वगत सत्ता ऐसी प्रवृत्तियों तथा प्रभावों से भरे पड़े हैं जो हमारे आध्यात्मिक नव-जन्म के विरुद्ध हैं और हमारे प्रयत्न की एकनिष्ठता के विरुद्ध कार्य करते हैं। **किसी अर्थ में हम उन मानसिक, स्नायविक और शारीरिक अभ्यासों के एक जटिल पुंज के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं जिसे हमारे कुछ प्रधान विचारों, कामनाओं और**

संसर्गों ने एक-दूसरे के साथ जोड़े रखा है, – एक ऐसा अनेकानेक छोटी-छोटी पुनरावर्ती शक्तियों का मिश्रण जिसमें कुछ-एक प्रधान स्पंदन रहते हैं। हमारे योग में हम हमारे उन भूतकाल और वर्तमान के समस्त ढाँचों के खण्डन का प्रतिपादन करते हैं जिनसे साधारण भौतिक और मानसिक मनुष्य बना है, तथा हमारे अंदर दर्शन के एक नये केंद्र और कर्मण्यताओं के एक नए जगत् का निर्माण करने का प्रतिपादन करते हैं जो एक दिव्य मानवता या अतिमानव-प्रकृति का निर्माण करेंगे।

इसके लिए पहली आवश्यकता है कि मन की उस केंद्रीय श्रद्धा और दृष्टि को विलीन कर दिया जाए जो उसे अपने विकास एवं तुष्टि तथा पुरानी बहिर्मुखी व्यवस्था में ही रस-लाभ करने में तल्लीन रखती है। यह अत्यावश्यक है कि इस बहिर्मुखी प्रवृत्ति के स्थान पर उस गंभीरतर श्रद्धा और दृष्टि को स्थापित कर दिया जाए जो एकमात्र भगवान् को ही देखती है और केवल भगवान् की ही खोज करती है। दूसरी आवश्यकता है कि हमारी समस्त निम्नतर सत्ता को इस नवीन श्रद्धा तथा महत्तर दृष्टि के प्रति नतमस्तक होने को बाध्य किया जाए। हमारी संपूर्ण प्रकृति को पूर्ण समर्पण करना होगा; इसे स्वयं को अपने प्रत्येक भाग तथा अपनी प्रत्येक गति में उस वस्तु के प्रति सौंप देना होगा जो असंस्कृत इंद्रियबद्ध-मन को स्थूल संसार और इसके पदार्थों की अपेक्षा बहुत ही कम यथार्थ प्रतीत होती है। हमारी संपूर्ण सत्ता को – अंतरात्मा, मन, इंद्रिय, हृदय, इच्छाशक्ति, प्राण और शरीर को – अपनी सभी शक्तियों का अर्पण इतनी पूर्णता के साथ तथा ऐसे तरीके से करना होगा कि वह भगवान् का उपयुक्त वाहक बन जाए। यह कोई सरल कार्य

नहीं है, क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु अपनी नियत प्रवृत्ति का, जो उसके लिए एक नियम रूप होता है, अनुसरण करती है और किसी मौलिक परिवर्तन का प्रतिरोध करती है। और, अन्य कोई भी परिवर्तन उतना मौलिक नहीं होगा जितना कि वह क्रांतिस्वरूप परिवर्तन जिसका पूर्ण योग में प्रयास किया जाता है। हमारे अंदर की सभी चीजों को सतत् केंद्रीय श्रद्धा, संकल्प तथा दृष्टि की ओर मोड़ना पड़ता है। प्रत्येक विचार और आवेग को उपनिषद् की भाषा में यह स्मरण कराना होता है कि ''दिव्य ब्रह्म वह है, न कि यह जिसकी लोग उपासना करते हैं।'' **प्राण के प्रत्येक तंतु को उस सबके संपूर्ण त्याग के लिए सहमत होने को बाध्य करना होता है जो अभी तक उसे अपने स्वयं के अस्तित्वमात्र के ही प्रतिनिधि रूप प्रतीत होते थे। मन को मन ही बने रहना छोड़कर अपने से परे की किसी वस्तु से प्रकाशमान होना पड़ेगा। प्राण को एक ऐसी विस्तृत, शांत, गहन, तथा प्रबल वस्तु में परिणत होना होगा जो अपनी क्षुद्र आवेग एवं कामनायुक्त पुरानी अन्ध, आतुर संकीर्ण सत्ता को पहचान तक न सके। यहाँ तक कि शरीर को भी रूप-परिवर्तन में से गुजरना होगा और आज की तरह तृष्णामय पशु या अवरोधक रोड़ा न रहकर आत्मा का सचेतन सेवक और तेजस्वी यंत्र तथा जीवन्त विग्रह बनना होगा।''**[११७]

***

''**शिष्य :** इस योग में सफलता की क्या शर्तें हैं?

श्रीअरविन्द : मैंने प्रायः उनके बारे में बताया है। **वे लोग पार जा सकते हैं जिनमें केंद्रीय सच्चाई होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि सत्ता**

के सभी भागों में सच्चाई हो। उस अर्थ में तो कोई भी पूर्ण रूप से तैयार नहीं है। पर यदि केंद्रीय सच्चाई हो तो उसे सत्ता के सभी भागों में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

दूसरी आवश्यक चीज है सत्ता में एक प्रकार की ग्रहणशीलता, जिसे हम कहते हैं सभी स्तरों का उच्चतर शक्ति के प्रति उद्घाटन।

तीसरी अपेक्षित चीज है उच्चतर शक्ति को धारण करने की क्षमता, एक प्रकार का घनत्व जो शक्ति को धारण कर सके जब वह नीचे आए।''[११८]

(iii) हमारी सत्ता की जटिलता के कारण उत्पन्न हुई कार्य की जटिलता

''योगाभ्यास हमें हमारी सत्ता की आसाधारण जटिलता, हमारे व्यक्तित्व की प्रेरक किंतु साथ ही अजीब उलझन भरी बहुविधता तथा विश्वप्रकृति की प्रचुर अंतहीन अस्तव्यस्तता के सम्मुख ला खड़ा करता है। उस साधारण मनुष्य के लिए, जो आवरण के पीछे सत्ता की गहनताओं और विशालताओं के विषय में अनभिज्ञ अपनी जागृत सतह पर रहता है, उसका मनोवैज्ञानिक जीवन काफी कुछ सरल होता है। उसके जीवन की सामग्री होती है, – इच्छाओं का एक छोटा-सा पर कोलाहलकारी दल, कुछ बाध्यकारी बौद्धिक एवं सौंदर्यपरक तृष्णाएँ, कुछ रुचियाँ, असंगत या विसंगत एवं अधिकांशतः तुच्छ विचारों की एक भीषण धारा के बीच कुछ प्रबल और प्रधान विचार, न्यूनाधिक अनिवार्य प्राणिक माँगों की एक राशि, बारी-बारी से शारीरिक आरोग्यता एवं रोग के दौर, हर्ष और शोकों का बिखरा हुआ तथा असंगत क्रम, मन तथा शरीर के प्रायः होते मामूली

बखेड़े और उतार-चढ़ाव, वहीं यदा-कदा होते प्रबल अन्वेषण और घोर क्रांतियाँ, और इस सबके द्वारा आंशिक रूप से उसके विचार और संकल्पशक्ति की सहायता लेकर, आंशिक रूप से इनके बिना ही या इनके अतिरिक्त ही इन सभी चीजों को एक मोटे-मोटे व्यवहारिक ढंग से, एक कामचलाऊ अस्त-व्यस्त व्यवस्था में व्यवस्थित करती समस्त 'प्रकृति'। औसत मनुष्य आज भी अपने आंतरिक जीवन में उतना ही असंस्कृत और अविकसित है जितना कि पुरातन आदिम मनुष्य अपने बाह्य जीवन में था। परंतु ज्यों ही हम अपने भीतर गहराई में उतरते हैं, – और योग का अर्थ ही आत्मा की समस्त बहुविध गहराइयों में डुबकी लगाना है, – त्यों ही हम स्वयं को, जैसे मनुष्य ने अपने को बाह्य रूप से घिरे हुए पाया वैसे ही, आत्मनिष्ठ रूप से समूचे जटिल जगत् से घिरा हुआ पाते हैं जिसे हमें जानने की तथा जीतने की आवश्यकता होती है।

सबसे अधिक परेशान करने वाली खोज है यह पता चलना कि हमारे प्रत्येक भाग – बुद्धि, संकल्पशक्ति, इंद्रिय-मानस, प्राणिक या कामनामय सत्ता, हृदय, देह – का मानो अपना ही जटिल व्यक्तित्व है और शेष अंगों से स्वतंत्र स्वाभाविक गठन है; जो न तो अपने-आप से मेल खाता है, न दूसरों से और न ही उस प्रतिनिधि स्वरूप अहं से मेल खाता है जो हमारे सतही अज्ञान पर किसी केंद्रीय और केंद्रीकारक सत्ता द्वारा डाला गया प्रतिबिंब है। हमें यह ज्ञात होता है कि हम एक नहीं अपितु अनेक व्यक्तित्वों से गठित हैं और उनमें से प्रत्येक की अपनी-अपनी माँगें और भिन्न-भिन्न प्रकृति है। हमारी सत्ता एक मोटे तौर पर गठित दुर्व्यवस्था है जिसमें हमें दिव्य व्यवस्था के विधान का सूत्रपात करना है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी पता लगता है कि जितना

बाहर से उतना ही भीतर से भी हम संसार में अकेले नहीं हैं; और हमारे अहं की तीव्र पृथक्ता एक प्रबल आरोपण एवं भ्रांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी; हमारा कोई अपना पृथक् अस्तित्व नहीं, वास्तव में हम किसी भीतरी एकांतता या निर्जनता में अलग-थलग भी नहीं रहते। हमारा मन एक ग्रहण करने वाला, विकसनशील तथा संशोधनकारी यंत्र है जिसमें ऊपर से, नीचे से, तथा बाहर से अविरत विजातीय प्रवाह, विषम पदार्थों का एक प्रवाहमान पुंज क्षण-प्रतिक्षण प्रविष्ट होता रहता है। हमारे आधे से भी बहुत अधिक विचार और भावनाएँ हमारे निजी नहीं होते, इस अर्थ में कि, वे हमारे बाहर ही आकार लेते हैं; कदाचित् ही किसी चीज के बारे में कहा जा सकता है कि वह हमारी प्रकृति के लिए वास्तव में मौलिक है। एक बहुत बड़ा भाग तो हमारे पास दूसरों से आता है या फिर वातावरण से, चाहे उपादान (raw-material) के रूप में हो या तैयार सामान के रूप में; परंतु इससे भी अधिक वे इहलौकिक वैश्व प्रकृति से या अन्य लोकों तथा स्तरों तथा साथ ही उन लोकों की सत्ताओं, शक्तियों एवं प्रभावों से आते हैं; क्योंकि हम चेतना के अन्य स्तरों – मन के स्तरों, प्राण के स्तरों, सूक्ष्म भौतिक स्तरों – द्वारा अतिक्रमित (overtopped) तथा परिवेष्टित हैं जिनसे हमारा ऐहिक जीवन और कर्म अपनी सामग्री प्राप्त करता है; अथवा जिस पर (ऐहिक जीवन और कर्म पर) ये स्तर पोषित होते हैं, तथा जिस पर वे अपने रूपों एवं अपनी शक्तियों की अभिव्यक्ति हेतु अपना दबाव डालते हैं तथा इसे वश में करके काम में लाते हैं। हमारे पृथक् मोक्ष की समस्या इस जटिलता के द्वारा तथा विश्व की बाहर से अंदर की ओर आती शक्तियों के प्रति बहुविध उद्घाटन एवं उनके प्रति अधीनता के कारण अत्यधिक रूप से बढ़ जाती है। इस सब का हमें विचार करना होगा, इससे निपटना होगा, यह जानना होगा कि हमारी

प्रकृति की गुप्त सामग्री तथा इसकी संघटक और परिणामभूत चेष्टाएँ क्या हैं और इस सब में एक दिव्य केंद्र और एक सच्ची सुसमंजसता तथा ज्योतिर्मय व्यवस्था का निर्माण करना होगा।

योग के सामान्य मार्गों में इन संघर्षकारी तत्त्वों से निपटने के लिए जो विधि प्रयोग में लाई जाती है वह सीधी और सरल है। हमारे अंदर की प्रधान मनोवैज्ञानिक शक्तियों में से किसी एक को हमारे भगवद्प्राप्ति के एकमात्र साधन के रूप में चुन लिया जाता है; शेष को जड़वत् स्तब्ध कर दिया जाता है या उसे उसकी क्षुद्रता में भूखे पड़े रहने के लिए छोड़ दिया जाता है। भक्त सत्ता की भावमय शक्तियों को और हृदय की तीव्र उमंगों को अधिकृत करके ईश्वर प्रेम में निमग्न-चित्त रहता है, मानो वह एक अनन्य एकनिष्ठ अग्निशिखा के रूप में समाहित हो गया हो; वह विचार की गतिविधियों से उदासीन रहता है, तर्क की हठों को अपने पीछे फेंक देता है, और मन की ज्ञान-पिपासा की कोई परवाह नहीं करता। उसे जिस ज्ञान की आवश्यकता है वह केवल उसकी श्रद्धा और उसकी वे प्रेरणाएँ हैं जो भगवान् के साथ युक्त हृदय से फूट निकलती हैं। कर्म करने के ऐसे किसी भी संकल्प का उसके लिए कोई उपयोग नहीं जो प्रियतम की प्रत्यक्ष पूजा में या उसके मन्दिर की सेवा की ओर अभिमुख न हो। ज्ञानवान् व्यक्ति सुविचारित आत्म-संयमन द्वारा विवेकशक्ति तथा मनन चिंतन में लीन रहकर मन के निःशब्द अंतर्मुख प्रयत्न में मुक्ति लाभ करता है। वह आत्मा के विचार पर ध्यान केंद्रित करता है, सूक्ष्म अंतर्विवेक से वह प्रकृति के माया-प्रपंच में आत्मा की शान्त उपस्थिति को पहचान सकने में समर्थ होता है और अनुभव करने में सक्षम विचार द्वारा ठोस आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करता है। वह भावावेशों की क्रीड़ा के प्रति तटस्थ, वासना की आतुर पुकार के प्रति बधिर और प्राण की

हलचलों से विरत रहता है; वह उतना अधिक भाग्यशाली होगा, जितना शीघ्र ये चीजें उससे झड़ जाएँ और उसे मुक्त, स्थिर, शांत, – नित्य अकर्त्ता – बने रहने दें। शरीर उसके मार्ग का रोड़ा है, प्राणिक क्रियाकलाप उसके शत्रु हैं; यदि उनकी माँगें जितनी हो सके उतनी कम की जा सकें तो वह उसका महान् सौभाग्य होगा। चारों ओर के संसार से जो अनंत कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं; उनके विरुद्ध सुदृढ़ रूप से बाह्य भौतिक और आंतर आध्यात्मिक एकान्त का सुरक्षा घेरा खड़ा करके वह उसका निवारण करता है। आभ्यंतर शान्ति की दीवार की ओट में सुरक्षित रहकर संसार से तथा दूसरों से उदासीन व अप्रभावित रहता है। अपने आप के साथ या भगवान् के साथ एकाकी रहना, ईश्वर और उनके भक्तों के साथ एकांतवास करना, मन के एकमात्र आत्मोन्मुख प्रयत्न के घेरे में या हृदय की ईश्वरमुखी उमंग के घेरे में अपने-आपको बंद कर लेना ही इन योग मार्गों का तरीका है। इनमें सभी ग्रंथियों को काटकर समस्या हल कर ली जाती है, सिवाय एकमात्र केंद्रीय समस्या को छोड़कर, जो कि हमारी एकमात्र मनोनीत प्रेरक-शक्ति का पीछा करती है; अपनी प्रकृति की विक्षिप्त करनेवाली पुकारों के बीच एकांगी एकाग्रता का सिद्धांत ही मुख्यतः हमारे बचाव के रूप में आता है।

परंतु पूर्णयोग के साधक के लिए ये आंतरिक या बाह्य एकान्तवास उसकी आध्यात्मिक उन्नति में एक प्रसंग या अवसरमात्र हो सकते हैं। जीवन को स्वीकार करते हुए उसे केवल अपना भार ही नहीं, अपितु अपने पर्याप्त भारी बोझ के साथ-साथ जगत् का बहुत-सा भार भी वहन करना होता है। अतएव, उसका योग दूसरों के योग की अपेक्षा बहुत अधिक संग्रामरूप होता है, किंतु वह केवल व्यष्टिगत युद्ध नहीं है, अपितु एक अतिविशाल क्षेत्र में लड़ा जानेवाला समष्टिगत युद्ध है।

साधक को केवल अपने अंदर की अहंकार-मूलक असत्य और अव्यवस्था की शक्तियों पर ही विजय प्राप्त नहीं करनी होती, अपितु उन्हीं के प्रतिनिधिस्वरूप जगत् में व्याप्त विरोधी एवं अनंत शक्तियों पर भी विजय प्राप्त करनी होती है। इनका यह प्रतिनिधिक स्वरूप इन्हें एक बहुत अधिक दुःसाध्य प्रतिरोधी क्षमता और पुनरावर्तन का लगभग एक अनंत अधिकार भी प्रदान करता है। प्रायः वह यह पाता है कि अपने निजी संग्राम को दुराग्रहपूर्वक जीत लेने के बाद भी उसे एक कभी न समाप्त होने वाले युद्ध की भाँति बार-बार जीतना होता है क्योंकि उसकी आंतरिक सत्ता अब इतनी अधिक विस्तृत हो चुकी होती है कि वह न केवल साधक की अपनी सुनिश्चित आवश्यकताओं और अनुभवों से युक्त उसकी अपनी सत्ता को समाहित किये हुए होती है, अपितु दूसरों की सत्ता के साथ भी एकाकार है, क्योंकि अपने अंदर वह (साधक) ब्रह्माण्ड को समाहित किये होती है।

सर्वांगीण पूर्णता के साधक को यहाँ तक कि स्वयं अपने आंतरिक सदस्यों के संघर्ष को बहुत अधिक स्वेच्छाचारी रूप से सुलझाने की अनुमति भी नहीं है। उसे सुविवेचित ज्ञान को संशयरहित श्रद्धा के साथ समन्वित करना होगा; उसे प्रेम की सहृदय आत्मा को शक्ति की अदम्य माँग के साथ सुसंगत करना होगा; तथा परात्पर शांति में संतुष्ट रहने वाली आत्मा की उदासीनता को दिव्य सहायक और दिव्य योद्धा की क्रियाशीलता के साथ घुला-मिला देना होगा। अन्य आत्मान्वेषकों की भाँति उसके सामने भी बुद्धि के प्रतिकूल तर्क-वितर्क, इंद्रियों की आग्रही पकड़, हृदय की व्याकुलताएँ, कामनाओं के जाल-घात और स्थूल देह का अवरोध – ये सब अपने समाधान के लिए प्रस्तुत होते हैं; परंतु इनके पारस्परिक तथा आंतरिक संघर्षों के साथ और साथ ही इनसे उसके लक्ष्य

में जो बाधाएँ आती हैं उनके साथ उसे अलग प्रकार से निपटना होता है, क्योंकि इन सब विद्रोही तत्त्वों के साथ व्यवहार करते हुए उसे एक असंख्यगुना अधिक दुःसाध्य पूर्णता प्राप्त करनी होती है। उन्हें दिव्य उपलब्धि और अभिव्यक्ति के यन्त्र के रूप में स्वीकार कर उसे उनकी विसंगतियों को बदलना होगा, उनकी गहन अंधताओं को प्रकाशित करना होगा, उन्हें अलग-अलग तथा सम्मिलित तौर पर रूपांतरित करना होगा, इन्हें अपने-आप में तथा एक दूसरे के साथ पूर्णतया सुसंगत करना होगा – सर्वांगीण रूप से, किसी भी कण या तंतु या स्पंदन को छोड़े बिना, कहीं भी अपूर्णता का लेशमात्र भी छोड़े बिना। एक एकांतिक एकाग्रता, यहाँ तक कि इस प्रकार की अनेक क्रमागत एकाग्रताएँ भी उसके जटिल कर्म की सिद्धि के लिये केवल अस्थायी साधन ही हो सकती हैं; जैसे ही उसकी उपयोगिता समाप्त हो वैसे ही इसे त्याग देना होगा। एक सर्वसमावेशी एकाग्रता वह कठिन उपलब्धि है जिसकी ओर उसे प्रयास करना होगा।''[११९]

***

''इस (पूर्ण) योग में अन्य योगाभ्यासों की पद्धतियों को अपनाया गया है... व्यक्ति ज्ञान द्वारा, भक्ति के द्वारा या पूर्णता (प्रकृति के रूपांतर) के लिए आत्म-शुद्धि की तपस्या द्वारा आरंभ कर सकता है और बाकी को उनके परिणामस्वरूप विकसित कर सकता है अथवा इन सभी को एक ही गति में समाहित कर सकता है। **सभी के लिए एक नियम नहीं है, यह व्यक्तित्व एवं प्रकृति पर निर्भर करता है। समर्पण योग की प्रमुख शक्ति है, परंतु समर्पण आवश्यक रूप से उत्तरोत्तर विकसित होगा; संपूर्ण समर्पण प्रारंभ में संभव नहीं है, पर केवल उस पूर्णता के**

लिए सत्ता में एक संकल्प होता है, – वस्तुतः इसमें समय लगता है; फिर भी केवल तभी जब समर्पण पूर्ण होता है तब साधना का पूर्ण प्रवाह संभव होता है। तब तक यथार्थतः अधिकाधिक बढ़ते हुए समर्पण के साथ व्यक्तिगत प्रयास आवश्यक है। व्यक्ति अपने अंदर भागवती शक्ति का आह्वान करता है और एक बार जब वह सत्ता में प्रवेश करना प्रारंभ करती है, वह सर्वप्रथम व्यक्तिगत प्रयास को सहायता प्रदान करती है, तत्पश्चात् उत्तरोत्तर उसके सम्पूर्ण कार्य को वहन कर लेती है, यद्यपि साधक की सहमति की सदा ही आवश्यकता बनी रहती है। जैसे-जैसे शक्ति कार्य करती है, वह साधक के लिए आवश्यक विभिन्न प्रक्रियाएँ शामिल कर लेती है, ज्ञान की, भक्ति की, आध्यात्मिकृत क्रिया तथा प्रकृति के रूपांतर की प्रक्रियाएँ (शामिल कर लेती है)। यह विचार, कि उन सब को सम्मिलित नहीं किया जा सकता, एक भूल है।''[२२०]

(iv) साधनाक्रम – मार्ग पर होने वाले अनुभव

''कोई व्यक्ति एक योगी के पास आ सकता है और उसके अन्दर अकस्मात् यह श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है कि यह व्यक्ति उसे उसके लक्ष्य तक पहुँचायेगा। वह नहीं जानता कि उसमें (योगी में) ज्ञान है या नहीं। वह एक चैत्य स्पंदन अनुभव करता है और जान लेता है कि उसे उसका गुरु मिल गया है। वह लम्बे मानसिक विवेचन के बाद या बहुत से चमत्कार देखने के बाद यह विश्वास नहीं करता। और यही एक ऐसी श्रद्धा है जिसका मूल्य है। तुम यदि तर्क करना शुरू कर दो तो सदा ही अपनी नियति को खो बैठोगे। कुछ लोग तो बैठकर यह विवेचन करने लगते हैं कि चैत्य प्रेरणा युक्ति-संगत है या नहीं।

लोग वस्तुतः उस चीज के कारण पथ-भ्रमित नहीं होते जिसे अंध-श्रद्धा कहा जाता है। वे बहुधा कहते हैं, 'आह, मैंने इस या उस व्यक्ति पर विश्वास किया और उसने मुझसे विश्वासघात किया!' परंतु वास्तव में दोष उस व्यक्ति का नहीं अपितु विश्वास करने वाले का होता है: यह उसकी स्वयं की कोई कमजोरी होती है। यदि वह अपनी श्रद्धा अक्षुण्ण बनाये रखता तो वह उस व्यक्ति को भी बदल देता : चूँकि वह अपनी उसी श्रद्धायुक्त-चेतना में नहीं बना रह सका इसलिए उसने यह अनुभव किया कि उसके साथ विश्वासघात हुआ है और उस व्यक्ति को वैसा न बना सका जैसा उसे बनाना चाहता था। यदि उसमें पूर्ण श्रद्धा होती तो उसने उस व्यक्ति को परिवर्तित होने के लिए बाध्य कर दिया होता। सदा ही श्रद्धा के द्वारा चमत्कार चरितार्थ हुआ करते हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास जाता है और भागवत् उपस्थिति के साथ उसका सम्पर्क होता है; यदि वह इस सम्पर्क को शुद्ध और अनवरत बनाए रख सके तो वह दिव्य चेतना को स्थूल भौतिक में भी अभिव्यक्त होने के लिए बाध्य कर देगा। परंतु सब कुछ तुम्हारे स्वयं के स्तर और तुम्हारी स्वयं की सच्चाई पर निर्भर करता है और तुम जितना अधिक चैत्य रूप से तैयार होओगे उतना ही अधिक तुम सच्चे स्रोत, सच्चे गुरु की ओर ले जाए जाओगे। चैत्य और उसकी श्रद्धा हमेशा ही सच्ची होती हैं, परन्तु यदि तुम्हारी बाहरी सत्ता में कपट है और यदि तुम आध्यात्मिक जीवन नहीं अपितु व्यक्तिगत शक्तियों की खोज में हो तो यह चीज तुम्हें गलत रास्ते पर ले जा सकती है। यही चीज है, न कि तुम्हारी श्रद्धा जो तुम्हें गलत रास्ते पर ले जाती है। श्रद्धा अपने आप में शुद्ध होते हुए भी तुम्हारी सत्ता में निम्न गतिविधियों से घुल मिल सकती है और तभी तुम गलत रास्ते पर ले जाए जाते हो।''[१२१]

***

"योग करने के सदा ही दो तरीके होते हैं – एक होता है सजग मन तथा प्राण द्वारा देखकर, निरीक्षण कर, विचार कर तथा करणीय-अकरणीय का निर्णय करने की क्रिया द्वारा। निश्चय ही इस क्रिया के पीछे भागवती शक्ति विद्यमान होती है, उस शक्ति का आह्वान या आहरण किया जाता है – क्योंकि अन्यथा कुछ भी अधिक नहीं किया जा सकता। फिर भी (इस पथ में) व्यक्तिगत प्रयास प्रधान होता है और वही अधिकांश भार वहन करता है।

दूसरा तरीका है चैत्य-पुरुष का, (जिसमें होता है) चेतना का भगवान् की ओर उद्घाटन, न केवल चैत्य को उद्घाटित कर सम्मुख ले आना, अपितु मन, प्राण, शरीर को उद्घाटित कर प्रकाश ग्रहण करना, यह बोध करना कि क्या करना है तथा स्वयं भागवती शक्ति द्वारा उस सबको चरितार्थ करते हुए अनुभव करना तथा देखना, साथ ही अपनी स्वयं की सजग और सचेतन सहमति द्वारा भागवती शक्ति का आह्वान तथा उसकी क्रिया में सतत् सहायता करना।

जब तक कि चेतना उसके सभी कर्मों के भगवद्-मूल के प्रति पूर्णरूप से उद्घाटित तथा पूर्णतः अधीन न हो जाए तब तक प्रायः और कुछ नहीं बस इन दोनों पथों का मिला-जुला प्रारूप ही हो सकता है। केवल तभी – जब वह पूर्णतः आधीन हो जाता है – साधक का सारा उत्तरदायित्व हट जाता है और उसके कंधों पर कोई व्यक्तिगत भार नहीं रह जाता।"[१२२]

***

"योग का आदर्श यह है कि सब कुछ भगवान् के अंदर और उनके चारों ओर केंद्रित होना चाहिए, तथा साधकों का जीवन

अवश्य उसी सुदृढ़ नीव के ऊपर स्थापित होना चाहिए, उनके व्यक्तिगत संबंधों का केंद्र भी भगवान् ही होने चाहिए। इसके अतिरिक्त, **सभी संबंधों को प्राणिक से उठकर आध्यात्मिक आधार तक जाना चाहिए जिसमें प्राणिक केवल आध्यात्मिक आधार का रूप और यंत्र मात्र हो – इसका अर्थ है कि साधकों में परस्पर कोई भी संबंध क्यों न हो, उन संबंधों में से समस्त ईर्ष्या, कलह, घृणा, दुर्भावना, विद्वेष तथा अन्य अशुभ प्राणगत भावों को त्यागना होगा, क्योंकि ये सब आध्यात्मिक जीवन का कोई अंग नहीं हो सकती।** इसी तरह समस्त अहंकारपूर्ण प्रेम और आसक्ति को भी दूर होना होगा – उस प्रेम को (त्यागना होगा) जो केवल अहंकार की तृप्ति के लिए ही प्रेम करता है, और, जो जैसे ही अहं आहत और असंतुष्ट हो जाता है वैसे ही प्रेम करना बंद कर देता है, यहाँ तक कि द्वेष और घृणा तक का पोषण करता है। प्रेम के पीछे वास्तविक जीवंत तथा स्थायी एकता अवश्य रहनी चाहिए। निःसंदेह यह मानी हुई बात है कि काम-वासनात्मक अपवित्रता जैसी चीजों को भी अवश्य दूर होना होगा।

यह है आदर्श, परंतु इसकी संसिद्धि के मार्ग का जहाँ तक संबंध है, वह भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है। एक मार्ग वह है जिसमें साधक एकमात्र भगवान् का ही अनुसरण करने के लिए अन्य सभी चीजों का परित्याग कर देता है। इसका अर्थ जैसे यह नहीं है कि वह संसार तथा जीवन से विरक्त हो जाए, वैसे ही यह भी नहीं कि वह किसी भी व्यक्ति से विरक्त हो जाए। इसका केवल यह अर्थ है अपने केंद्रीय लक्ष्य में डूब जाना, इस विचार के साथ कि एक बार उसके संसिद्ध होने पर सभी संबंधों को सच्चे आधार पर स्थापित करना सुगम हो जाएगा, दूसरों से

हृदय में, आत्मा में तथा जीवन में यथार्थ रूप में एक होना, आध्यात्मिक सत्य तथा भगवान् के अंदर युक्त होना सुगम हो जाएगा। दूसरा तरीका है व्यक्ति जहाँ है वहाँ से आगे जाना, केंद्रीय रूप से भगवान् को खोजते हुए और सभी कुछ को उनके अधीनस्थ करते हुए, परंतु अन्य सभी चीजों को अलग रखते हुए नहीं अपितु उनमें जो कुछ रूपांतरित होने के योग्य है उसे क्रमशः और उत्तरोत्तर रूपांतरित करने की चेष्टा करना। जैसे-जैसे आंतर सत्ता शुद्ध होती जाती है वैसे-वैसे वे सभी चीजें जो संबंधों के अंदर वांछित नहीं होतीं – (जैसे) लैंगिक अपवित्रता, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकारपूर्ण माँग – दूर होती जाती हैं और उनके स्थान में आ जाता है आत्मा से आत्मा का एकत्व और भगवान् की संयोजक कड़ी द्वारा सामाजिक जीवन का एक साथ बंधन।''[१२३]

***

''कुछ लोग ऐसे होते हैं जो पूर्ण समर्पण हेतु एक विशुद्ध और बलवती इच्छा के साथ योग आरम्भ करते हैं। ये वे लोग हैं जो चैत्य द्वारा अथवा सुस्पष्ट एवं प्रबुद्ध मानसिक संकल्पशक्ति द्वारा शासित हैं जो एक बार समर्पण को साधना के विधान के रूप में स्वीकार करने के बाद उसके संबंध में कोई बेतुकी बात सहन नहीं करती तथा सत्ता के अन्य भागों को भी उसके निर्देश की अनुपालना के लिए बाध्य करती है। यहाँ फिर भी प्रयास है; किंतु वह पहले से ही इतना तैयार और सहज है और साथ ही उसे पीछे किसी उच्चतर शक्ति का इतना भान होता है कि साधक कदाचित् ही यह अनुभव करता है कि वह कोई प्रयत्न भी कर रहा है। इसके विपरीत मामले में जहाँ मन और प्राण में अपनी स्वेच्छा बनाए रखने की चाह हो, अपनी मनमानी गति

को छोड़ देने में आना-कानी हो, वहाँ तब तक संघर्ष और प्रयास रहता है जब तक कि सामने के यंत्र तथा पीछे या ऊपर भगवत्ता के बीच की दीवार टूट न जाए। ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता जो बिना भेद के सब पर लागू होता हो – **मानव प्रकृति की विविधताएँ किसी एक प्रभावशाली नियम के दायरे में आने के लिए अति विशाल है।**''[१२४]

***

''मैंने भक्ति का कभी निषेध नहीं किया है। और मुझे यह भी याद नहीं कि किसी समय मैंने ध्यान का निषेध किया हो। मैंने अपने योग में भक्ति और ज्ञान दोनों ही को उतना ही बल दिया है जितना कर्म को, भले ही इनमें से किसी भी एक को, शंकर या चैतन्य के समान, अनन्य रूप से सर्वोपरि महत्ता नहीं प्रदान की है।

साधना के संबंध में जो कठिनाई तुम्हें या किसी भी साधक को अनुभव होती है वह वास्तव में ध्यान और भक्ति और कर्म के परस्पर विरोध का प्रश्न नहीं है। कठिनाई है उस अपनाए जाने वाले मनोभाव की, या तुम्हारे तरीके की, या, तुम उसे कुछ भी नाम दे सकते हो, जिससे तुम इन्हें (भक्ति, ध्यान व कर्म) करते हो।

कर्म करते हुए यदि अभी तक तुम सब समय भगवत्स्मरण नहीं कर पाते, तो इससे कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। वर्तमान समय के लिए, आरम्भ में स्मरण और निवेदन और अन्त में धन्यवाद देना ही पर्याप्त होगा। या अधिक-से-अधिक, कार्य के मध्य किसी अवसान के समय भी याद करना। तुम्हारा जो तरीका है वह मुझे कुछ कष्टकर एवं कठिन प्रतीत होता है, – लगता है कि तुम मन के एक ही भाग द्वारा स्मरण और कार्य दोनों करने का प्रयास कर रहे हो। मैं नहीं जानता कि यह सम्भव भी है।

काम करते हुए जो लोग सतत् स्मरण करते हैं (ऐसा किया जा सकता है), वे प्रायः अपनी मन-बुद्धि के पश्चाद्भाग से स्मरण करते हैं अथवा ऐसा भी होता है कि क्रमशः अभ्यास से ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि जिससे व्यक्ति एक साथ दो प्रकार का विचार या दो प्रकार की चेतना रख सके – एक को आगे रखे जिसके द्वारा कर्म हो, और दूसरी अंतःस्थित रहे जो साक्षी-रूप से देखे और स्मरण करे। एक अन्य तरीका भी है जो लंबे समय तक मेरा तरीका रहा – एक ऐसी स्थिति जिसमें कर्म अपने आप होता है और वैयक्तिक विचार या मानसिक क्रिया के बिना हस्तक्षेप के, जबकि चेतना भगवान् के अंदर शान्त भाव से रहती है। हालाँकि, यह स्थिति प्रयत्न द्वारा उतनी साध्य नहीं है जितना कि सहज सतत् अभीप्सा और आत्म-समर्पण के संकल्प द्वारा – या फिर चेतना की एक ऐसी गति द्वारा जो अंतः-सत्ता को करण-सत्ता से पृथक् करती हो। **अभीप्सा एवं आत्मोत्सर्ग के संकल्प द्वारा एक महत्तर शक्ति को कार्य संपादन के लिए आह्वान करना एक ऐसी पद्धति है जो महान् परिणाम लाती है, भले ही कुछ में इसे ऐसा करने में बहुत लंबा समय लगता है। यह साधना का एक महान् रहस्य है, यह जानना कि सब कुछ मन के प्रयत्न द्वारा करने की जगह अंतर या ऊर्ध्व स्थित शक्ति द्वारा कैसे कराया जाए।** मेरे कथन का यह आशय नहीं कि मन का प्रयास अनावश्यक है अथवा वह फलप्रद नहीं होता – हाँ मन यदि वह सब कुछ स्वयं ही करना चाहे, तो यह आध्यात्मिक धुरंधरों को छोड़कर अन्य सभी के लिए बड़ा कष्टप्रद प्रयास बन जाता है। न ही मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि यह दूसरी प्रक्रिया वह संक्षिप्त-मार्ग है जिसकी हम कामना करते हैं; जैसा मैंने कहा, परिणाम में लंबा समय लग सकता है। धैर्य और दृढ़ संकल्प योग की प्रत्येक प्रणाली में आवश्यक हैं।

बल बलशाली के लिए ठीक है – किंतु अभीप्सा और भगवद्कृपा द्वारा उसका प्रत्युत्तर सर्वथा कपोल-कल्पनाएँ नहीं हैं; ये आध्यात्मिक जीवन की महान् यथार्थताएँ हैं।''[१२५]

***

''इन अवस्थाओं के बारी-बारी से आते रहने के विषय में जो तुम शिकायत करते हो उसका कारण है कि चेतना की प्रकृति ही ऐसी है; जागृत अवस्था के एक छोटे-से दौर के बाद वह थोड़ी नींद की आवश्यकता अनुभव करती है। प्रारंभ में बहुधा जागृत अवस्थाएँ संक्षिप्त और निद्राएँ लम्बी होती हैं; बाद में दोनों काल बराबर और तत्पश्चात् निद्रा के काल अधिकाधिक संक्षिप्त होते जाते हैं। इन अवस्था परिवर्तनों का दूसरा कारण है जब व्यक्ति (अनुभव) ग्रहण कर रहा हो उस समय उसे आत्मसात् करने हेतु प्रकृति की आवश्यकता बंद होने की होती है। वह कदाचित् बहुत अधिक ग्रहण कर सकती है, किंतु अनुभव होते समय यह उस सब को जो वह अनुभव लाता है, सही रूप से समाहित नहीं कर पाती इसीलिए उसे आत्मसात् करने के लिए बंद हो जाती है। एक तीसरा कारण रूपांतर के काल में आता है, – प्रकृति का एक भाग बदल जाता है और व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है मानो पूर्ण और स्थायी परिवर्तन हो गया हो। परंतु ऐसा लुप्त होते देख व्यक्ति को निराशा होती है जिसके परिणामस्वरूप एक शुष्कता या चेतना के अधोगमन का काल आता है। ऐसा इसलिए है कि चेतना का दूसरा भाग परिवर्तन हेतु ऊपर आता है जिसके बाद तैयारी का और गुप्त क्रिया का काल आता है जो अंधेरे का या उससे भी बुरा काल प्रतीत होता है। ये बातें साधक की उत्सुकता तथा उसकी अधीरता को चौंका देते हैं, निराश या व्याकुल कर देते हैं; पर यदि व्यक्ति उन्हें शांत भाव से ले तथा उनका उपयोग करना जानता हो या

उनके प्रति उचित मनोभाव अपनाए तो वह इन अंधकार भरे कालों को भी सचेतन साधना का अंग बना सकता है। इसलिए वैदिक ऋषि कहते हैं कि 'दिन और रात दोनों' बारी-बारी से आकर 'दिव्य शिशु को पोषित करते हैं'।''[१२६]

***

''**एक बार प्राप्त हुई प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व बना रहता है और उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है। योग कोई ऐसी चीज नहीं जो किसी निर्णायक झटके से इस या उस ओर चल पड़े – यह तो एक नवीन चेतना का निर्माण है और उतार-चढ़ावों से भरा हुआ है। परंतु यदि कोई इसमें लगा रहे तो चढ़ावों का स्वभाव यह है कि वे इकट्ठे होकर निर्णायक परिवर्तन में परिणत हो जाते है – इसलिए जो करने योग्य काम है वह है उसमें लगे रहना।** गिरने के बाद रो कर यह मत कहो, ''मैं खत्म हो गया,'' परंतु उठ खड़े होओ, अपने को झाड़ लो और सही पथ पर आगे बढ़ते जाओ।''[१२७]

***

''**भीतर से उद्घाटन या ऊपर से अवतरण, ये योग सिद्धि के दो प्रधान मार्ग हैं।** बाह्य सतही मन का या भावावेगों का एक प्रयास, किसी प्रकार की तपस्या, इन वस्तुओं में से किसी का निर्माण करती प्रतीत हो सकती है, परंतु इन दो मौलिक मार्गों की तुलना में ये परिणाम साधारणतया अनिश्चित और आंशिक होते हैं। इसीलिए इस योग में साधना के फलों की प्राप्ति के लिए हम सदैव अनिवार्य रूप से 'उद्घाटन' पर – अर्थात् हमारे अंतरतम भाग, चैत्य, की ओर आन्तर मन, प्राण तथा शरीर के अंतर्मुख उद्घाटन पर, एवं मन से ऊपर स्थित सभी चीजों की ओर

ऊर्ध्वमुख उद्घाटन पर – आग्रह पूर्वक बल देते हैं।

इसका मूलभूत कारण यह है कि, यह तुच्छ मन, प्राण, तथा शरीर जो हम अपने आप को बतलाते हैं, वह केवल एक सतही गति मात्र है और हमारा सच्चा 'स्व' बिल्कुल नहीं है। यह व्यक्तित्व का एक बाह्य अंशमात्र है जो एक छोटे से जीवन के लिए 'अज्ञान' की क्रीड़ा हेतु सम्मुख रखा गया है। **इसे सत्य के टुकड़ों को खोजने के लिए लड़खड़ाते हुए एक अज्ञानी मन से, सुख-भोग के टुकड़ों की खोज में इधर-उधर भागते अज्ञानी प्राण से, वस्तुओं के संस्पर्शों को झेलने वाले और उनसे फलित दुःख या सुख पर अधिकार रखने की अपेक्षा उनसे कष्ट झेलने वाली तमोग्रस्त और प्रायः अवचेतन भौतिक सत्ता से, सज्ज किया गया है।** इस सबको तब तक स्वीकार किया जाता है जब तक कि मन उकता नहीं जाता और अपने तथा वस्तुओं के यथार्थ सत्य के अन्वेषण में नहीं लग जाता, प्राण उकता कर इस संदेह से नहीं भर उठता कि कहीं यथार्थ आनन्द जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व है भी या नहीं और भौतिक थककर स्वयं अपने से और अपने दुःखों और सुखों से मुक्ति न चाहने लगे। तब जाकर व्यक्तित्व के तुच्छ अज्ञानी अंश के लिए अपने यथार्थ आत्म-तत्त्व की ओर तथा उसके द्वारा इन महत्तर चीजों की ओर – या फिर अपने निर्वाण की ओर, लौटना संभव होता है।

सच्ची आत्मा कहीं सतह पर नहीं अपितु अंदर गहराई में और ऊपर ऊर्ध्व में विद्यमान है। भीतर अन्तरात्मा है जो उस आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर भौतिक को अवलंबन प्रदान करती है तथा जिसमें वैश्विक विस्तृतता की क्षमता है और साथ ही उन चीजों की भी जिनकी अब माँग की गई है – आत्मा और वस्तुओं के सत्य के साथ सीधा संपर्क,

वैश्व आनन्द का आस्वादन, स्थूल भौतिक देह की काराबद्ध क्षुद्रता और पीड़ा से मुक्ति। ..... **हमारे मनोविज्ञान के अनुरूप यह (आत्मा) हमारे क्षुद्र बाह्य व्यक्तित्व के साथ चेतना के किन्हीं केंद्रों के द्वारा जुड़ा होता है जिनके विषय में हम योग द्वारा सचेतन होते हैं। आन्तरिक सत्ता का केवल एक छोटा-सा अंश इन केंद्रों में से निकलकर बाह्य जीवन में आ पाता है, किंतु वह स्वल्पांश ही हमारा सर्वोत्तम अंश होता है और वही हमारी कला, काव्य, दर्शन, आदर्श, धार्मिक अभीप्साओं, ज्ञान तथा पूर्णता की प्राप्ति हेतु हमारे प्रयत्न के लिए उत्तरदायी है।** किंतु आंतरिक केंद्र अधिकांशतः बंद या सुप्त हैं – उन्हें खोलना और जागृत तथा सक्रिय करना योग का एक उद्देश्य है। जैसे-जैसे वे खुलते हैं वैसे ही हमारे अंदर आंतर सत्ता की शक्तियाँ और सम्भावनाएँ भी जाग जाती हैं; हम पहले एक बृहत्तर चेतना के प्रति और फिर वैश्व चेतना के प्रति जागृत होते हैं; तब हम और अधिक सीमित जीवनों वाले क्षुद्र पृथक् व्यक्तित्व नहीं रह जाते अपितु वैश्व क्रिया के केंद्र और ब्रह्माण्ड की शक्तियों के सीधे संपर्क में हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, न चाहते हुए भी ब्रह्माण्ड की शक्तियों के खिलौने, जैसा कि सतही व्यक्ति होता है, बनने के स्थान पर हम कुछ हद तक प्रकृति की क्रीड़ा के विषय में सचेतन और उसके स्वामी भी हो सकते हैं – ऐसा किस सीमा तक हो सकता है यह तो आन्तर सत्ता के विकास पर तथा ऊपर उच्चतर आध्यात्मिक स्तरों की ओर उसके उद्घाटन पर निर्भर करता है। उसके साथ ही साथ हृत्केंद्र का उद्घाटन उस चैत्य सत्ता को उन्मुक्त करता है जो हमें अन्तःस्थित भगवान् के और हमसे ऊपर स्थित उच्चतर 'सत्य' के विषय में सचेतन बनाने लगता है।

क्योंकि सर्वोच्च आध्यात्मिक पुरुष हमारे व्यक्तित्व और शारीरिक अस्तित्व के पीछे भी नहीं है, अपितु उसके ऊपर है और उससे सर्वथा अधिक है। **जिस प्रकार आंतरिक केंद्रों में सबसे गहरा केंद्र हृदय (में) है उसी प्रकार उच्चतम केंद्र सिर में है; किंतु वह केंद्र जो कि आत्मा के प्रति सीधा उद्घाटित होता है वह सिर के ऊपर, स्थूल देह के बिल्कुल बाहर उस शरीर में विद्यमान है जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं।** इस आध्यात्मिक पुरुष के दो पहलू हैं और उसके साक्षात्कार के परिणाम इन दो पक्षों के अनुरूप होते हैं। एक है अचल-स्थिर; विस्तृत शांति, मुक्ति, निश्चल-नीरवता की स्थिति : जिसमें नीरव आत्मा किसी भी क्रिया या अनुभव से अप्रभावित रहता है; वह तटस्थ रहकर उन्हें अवलंबन देता है किंतु उन्हें उद्भूत करता जरा भी प्रतीत नहीं होता अपितु अनासक्त या अलिप्त उदासीन रूप में पीछे अवस्थित प्रतीत होता है। दूसरा पहलू क्रियाशील है और उसका अनुभव एक ऐसे वैश्व पुरुष या आत्मा के रूप में होता है जो केवल अवलंबन ही नहीं देता अपितु संपूर्ण वैश्व क्रिया को उद्भूत करता एवं धारण करता है – उसके केवल उसी भाग को नहीं जो हमारी भौतिक सत्ताओं से संबंध रखता है अपितु उस सब को भी जो इससे परे है – इस जगत् को और अन्य सब जगतों को, विश्व के अतिभौतिक ही नहीं अपितु भौतिक स्तरों को भी। इसके अतिरिक्त, हम अध्यात्म-पुरुष को सबमें एकमेव के रूप में अनुभव करते हैं; किंतु साथ ही उसे सबके ऊपर भी, परात्पर के रूप में, सभी व्यष्टिगत जन्म या वैश्व अस्तित्व को अतिक्रम करते भी अनुभव करते हैं। उस विश्वात्मा में, जो सबमें एक है, प्रवेश करने का अर्थ है अहं से मुक्त होना; अहं या तो चेतना में एक क्षुद्र करणरूप तत्त्व बन कर रह जाता है या फिर हमारी चेतना से सर्वथा लुप्त तक हो जाता है। यही है अहं का लय या निर्वाण। सभी से

ऊपर स्थित परात्पर पुरुष में प्रवेश करना हमें वैश्व चेतना और क्रिया से भी बिल्कुल परे चले जाने में समर्थ बनाता है – यह पार्थिव-अस्तित्व से उस पूर्ण मुक्ति का मार्ग भी बन सकता है जिसे लय, मोक्ष या निर्वाण भी कहते हैं। ...हृदय के द्वारा चैत्य का उद्घाटन होने पर वह प्रथमतः वैयक्तिक भगवान्, वे भगवान् जो हमारे साथ आंतरिक संबंध बनाए हुए हैं, के साथ हमारा संबंध स्थापित कर देता है; यह विशेषकर प्रेम और भक्ति का स्रोत है। यह ऊर्ध्वमुख उद्घाटन संपूर्ण भगवान् के साथ हमारा सीधा संबंध स्थापित कर देता है और हमारे भीतर दिव्य चेतना का और आत्मा का नवजन्म या जन्मों का निर्माण कर सकता है।

जब शान्ति स्थापित हो जाती है तो यह उच्चतर या भागवती शक्ति ऊपर से उतर सकती है और हमारे अंदर कार्य कर सकती है। **यह (शक्ति) प्रायः पहले मस्तक में उतरती है और आंतरिक मन के केंद्रों को मुक्त करती है, फिर हृत्केंद्र में आती है और चैत्य तथा भावात्मक सत्ता को पूरी तरह मुक्त करती है, फिर नाभि और अन्य प्राणिक केंद्रों में आती है और आंतरिक प्राण को मुक्त करती है, फिर मूलाधार में तथा और नीचे की ओर जाती है और आन्तर भौतिक सत्ता को मुक्त करती है। यह एक साथ ही मुक्ति और पूर्णता दोनों के लिए कार्य करती है; यह सारी प्रकृति को एक-एक भाग करके हाथ में लेती है और उस पर क्रिया करती है, जिसका निषेध करना हो उसका निषेध करती है, जिसे उन्नीत करना हो उसे उन्नीत करती है, जिसकी रचना करनी हो उसकी रचना करती है। यह प्रकृति के अंदर एक नई लयबद्धता संघटित, समन्वित और प्रतिष्ठित करती है।** यह उच्चतर प्रकृति की उच्चतर से भी उच्चतर शक्ति और उसके अधिकाधिक ऊँचे क्षेत्रों की शृंखला को भी तब

तक उतार सकती है जब तक कि, यदि ऐसा साधना का लक्ष्य हो, अतिमानसिक शक्ति और अस्तित्व को उतार लाना संभव न हो जाय। हृत्केंद्र में चैत्य की क्रिया ही इस सबको तैयार करती है, इस सबमें सहायता देती है, और इस सबको आगे बढ़ाती है; चैत्य पुरुष जितना ही अधिक उद्घाटित होता है, सम्मुख होता है, सक्रिय होता है उतनी ही अधिक तेजी, निरापदता और सहजता से इस शक्ति की क्रिया हो सकती है। **हृदय में जितने ही अधिक प्रेम, भक्ति और समर्पण बढ़ते हैं, साधना का विकास भी उतना ही अधिक तीव्र और पूर्ण होता है। क्योंकि, अवतरण और रूपान्तर का एक ही साथ अर्थ है भगवान् के साथ उत्तरोत्तर संपर्क और एकत्व।**

यही साधना का मूलभूत औचित्य है। यह स्पष्ट ही होगा कि यहाँ जो सबसे महत्त्वपूर्ण दो चीजें हैं वे हैं जो कुछ भी हृदय और मन के पीछे और उनसे ऊपर है उस सबकी ओर हृत्केंद्र और मानस-केंद्रों का उद्घाटन हो। क्योंकि, हृदय खुलता है चैत्य पुरुष की ओर और मन के केंद्र खुलते हैं उच्चतर चेतना की ओर और चैत्य पुरुष तथा उच्चतर चेतना के बीच का संबंध ही सिद्धि का प्रमुख साधन है। प्रथम उद्घाटन सिद्ध होता है हृदय के अंदर एकाग्र होने से, अपने अंदर अभिव्यक्त होने के लिये, तथा चैत्य द्वारा संपूर्ण प्रकृति को हाथ में लेने और उसका नेतृत्व करने के लिये भगवान् को पुकारने से। अभीप्सा, प्रार्थना, भक्ति, प्रेम और समर्पण ही साधना के इस अंग के प्रमुख अवलम्ब होते हैं – साथ-ही-साथ उस सब का परित्याग भी जो हमारी अभीप्सित वस्तु की सिद्धि के मार्ग में बाधक हो। दूसरा उद्घाटन सिद्ध होता है मस्तक में (बाद में, उससे ऊपर) चेतना की एकाग्रता द्वारा और सत्ता के अन्दर दिव्य

शान्ति, शक्ति, प्रकाश, ज्ञान, आनन्द के – इनमें सबसे पहले शांति के लिये, अथवा शान्ति और शक्ति दोनों के एक साथ – अवतरण के लिये अभीप्सा, पुकार और सतत् संकल्प द्वारा। वस्तुतः कुछ लोग पहले प्रकाश को या पहले आनन्द को प्राप्त करते हैं अथवा कुछ लोग ज्ञान के अकस्मात् ऊपर से आते प्रवाह को प्राप्त करते हैं। कुछ लोगों में पहले एक ऐसा उद्घाटन होता है जो उनके ऊपर स्थित एक विस्तृत असीम नीरवता, शक्ति, प्रकाश या आनन्द को उनके सामने प्रकट कर देता है और बाद में वे लोग या तो उन तक आरोहण करते हैं या ये वस्तुएँ निम्नतर प्रकृति में उतरने लगती हैं। अन्य लोगों में अवतरण या तो पहले सिर में, फिर नीचे हृदय के स्तर तक, उसके बाद नाभि और उसके नीचे एवं सारे शरीर में व्याप्त होता हुआ आता है, या फिर शांति, प्रकाश, विस्तार या शक्ति का एक ऐसा अवर्णनीय उन्मीलन होता है जिसमें अवतरण का कोई बोध नहीं होता, या फिर वैश्व चेतना में एक दिगन्तसम (horizontal) उद्घाटन होता है या सहसा विस्तृत हुए मन में ज्ञान का प्रवाह उमड़ पडता है। जो कुछ भी आये उस सबका स्वागत करना होगा – क्योंकि सबके लिये कोई निश्चित-निरपेक्ष नियम नहीं है – किंतु यदि शान्ति सर्वप्रथम न आई हो, तो इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि व्यक्ति खुशी से फूल न उठे या संतुलन न खो दे। तथापि प्रधान क्रिया तो तभी प्रारम्भ होती है जब भागवत् शक्ति अर्थात् माता जी की शक्ति नीचे आकर आधार को अपने नियंत्रण में ले लेती है, क्योंकि तभी चेतना का संगठन प्रारम्भ होता है और योग की बृहत्तर नींव पडती है। **...ऊपर से होने वाले अवतरण की इस प्रक्रिया में और ऊपर की इस क्रिया में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि व्यक्ति पूरी तरह से अपने ऊपर ही भरोसा न रखे अपितु गुरु के पथप्रदर्शन पर निर्भर रहे तथा जो कुछ भी**

हो उस सबको उनके आँकलन, निर्णय और विचार के अनुसार करे। क्योंकि बहुधा यह होता है कि निम्नतर प्रकृति की शक्तियाँ अवतरण के कारण भड़क उठती हैं और उत्तेजित हो जाती हैं एवं इसके साथ मिलकर इसे अपने लाभ के लिये काम में लाना चाहती हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि कोई ऐसी शक्ति या शक्तियाँ जो स्वभावतः अ-दिव्य होती हैं, अपने-आप को परम् प्रभु अथवा भगवती माता के रूप में प्रस्तुत करती हैं और व्यक्ति से सेवा एवं समर्पण की माँग करती हैं। यदि इन वस्तुओं को स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अत्यंत विनाशकारी परिणाम होगा। यदि वास्तव में साधक की केवल भागवत् क्रिया के प्रति सहमति हो या उस पथप्रदर्शन के प्रति अधीनता या समर्पण का भाव हो तो सब कुछ निर्बाध गति से आगे बढ़ सकता है। यह सहमति और सभी अहंमय शक्तियों या अहं को आकृष्ट करने वाली सभी शक्तियों का परित्याग साधना में शुरू से अंत तक सुरक्षा का काम करता है। किंतु प्रकृति के मार्ग फन्दों से भरे पड़े हैं, अहं के छद्मवेश अगणित हैं, अंधकार की शक्तियों की मरीचिकाएँ अर्थात् राक्षसी माया असाधरण रूप से कुशल होती है; तर्कबुद्धि एक अयोग्य पथप्रदर्शक होती है और प्रायः विश्वासघाती बन जाती है; प्रत्येक आकर्षक पुकार का अनुसरण करने के लिये ललचाने वाली प्राणिक कामना हमारे साथ सदैव लगी रहती है। यही कारण है कि हम इस योग में उस वस्तु पर अत्यधिक आग्रह करते हैं जिसे हम समर्पण कहते हैं – अंग्रेजी शब्द 'सरेंडर' द्वारा इसका भाव पर्याप्त रूप से प्रकट नहीं होता। यदि हृत्केंद्र पूर्ण रूप से खुला रहे और चैत्य सदैव नियन्त्रण करता रहे तो फिर कोई प्रश्न नहीं रहता; सब कुछ सुरक्षित हो जाता है। किंतु चैत्य किसी भी

क्षण निम्नतर वस्तुओं के उभर आने से आच्छादित हो सकता है। कुछ ही ऐसे हैं जो इन खतरों से मुक्त होते हैं और ये ठीक वे ही लोग होते हैं जिनके लिए समर्पण सरलता से संभव होता है। **इस कठिन प्रयास में ऐसे किसी व्यक्ति का मार्गदर्शन अत्यावश्यक और अनिवार्य होता है जो तादात्म्य के द्वारा स्वयं भगवान् बन गया हो या उसका प्रतिनिधि हो।**''[१२८]

***

''अज्ञान हमारी सत्ता के सब भागों की प्रकृति है; हमारी भौतिक सत्ता प्रत्यक्ष ही अज्ञान का एक पुंज है, प्राण अज्ञानयुक्त कामनाओं और आवेगों से भरा है, मन भी अविद्या का एक ऐसा यन्त्र है जो किसी प्रकार के अपूर्ण और अधिकांशतः निम्न और बाह्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिये संघर्षरत है। साधक का मार्ग इस अज्ञान में से होकर जाता है; एक लम्बे समय तक उसे ठोस अनुभव या उपलब्धि का कोई प्रकाश नहीं प्राप्त हो सकता, केवल मन की वे आशाएँ, विचार एवं विश्वास ही प्राप्त होते हैं जो सच्ची आध्यात्मिक दृष्टि नहीं प्रदान करते अथवा उसे प्रकाश की झलकियाँ अथवा प्रकाश के दौर मिलते हैं किंतु प्रकाश प्रायः बुझ जाता है और प्रकाशमय कालों के बाद अंधकार के बारंबार लौटनेवाले या लम्बे काल आते हैं। सतत् उतार चढ़ाव, निरंतर निराशा, अनगिनत पतन और निष्फलताएँ आती रहती हैं। योग का कोई भी मार्ग वस्तुतः सरल या इन कठिनाइयों या उतार-चढ़ावों से मुक्त नहीं है; भक्तिमार्ग सबसे अधिक सुगम माना जाता है, किंतु वहाँ भी हम निरन्तर ऐसी शिकायतें पाते हैं कि व्यक्ति हमेशा खोजता रहता है पर पाता कभी नहीं और अच्छी से अच्छी दशा में भी निरन्तर ज्वार-भाटा,

मिलन-विरह, हर्ष-रुदन, उल्लास-निराशा आते रहते हैं। यदि व्यक्ति में श्रद्धा हो अथवा श्रद्धा के अभाव में लक्ष्य सिद्ध करने का संकल्प हो तो वह आगे बढ़ता जाता है और भागवत् साक्षात्कार के उल्लास एवं आलोक में प्रवेश करता है। यदि कोई सच्चे समर्पण का कुछ अभ्यास बना ले तो यह सब आवश्यक नहीं है; वह सूर्यालोकित पथ में प्रवेश कर सकता है। अथवा यदि कोई उस वस्तु का सम्पर्क प्राप्त कर सके जिसे शुद्ध भक्ति कहा जाता है तो जो भी हो वही पर्याप्त होता है; मार्ग सुगम हो जाता है, या यदि नहीं होता, तो भी यह एक पर्याप्त प्रारम्भ होता है जो उन कष्टों या पतनों के बिना हमें अन्त तक अवलम्ब देता रहता है जो जिज्ञासु के सामने बहुधा आते हैं।

सभी योगों में जिज्ञासु को तीन मूलभूत लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है : भगवान् के साथ ऐक्य या स्थायी सम्पर्क, अन्तरात्मा या पुरुष की अथवा आत्मा की मुक्ति, और चेतना का एक निश्चित परिवर्तन अर्थात् आध्यात्मिक परिवर्तन। यही वह परिवर्तन है जो अन्य दो लक्ष्यों तक पहुँचने के लिये आवश्यक है, कम-से-कम किसी निश्चित परिमाण में आवश्यक है, यही अधिकांश संघर्षों और कठिनाइयों का कारण है; क्योंकि इसे प्राप्त करना सरल नहीं है; मन के परिवर्तन, हृदय के परिवर्तन, संकल्प के अभ्यासों के परिर्वतन की माँग की जाती है तथा हमारी अज्ञानमयी प्रकृति द्वारा उसका हठपूर्वक प्रतिरोध किया जाता है। इस योग में प्रकृति के पूर्ण रूपान्तर को लक्ष्य बनाया जाता है क्योंकि यही पूर्ण ऐक्य के लिये तथा अन्तरात्मा और आत्मा की ही नहीं अपितु स्वयं प्रकृति की पूर्ण मुक्ति के लिये भी आवश्यक है। ...बौद्धिक मन की अत्यधिक क्रियाशीलता और उसके

निज विचारों के अहंकार, पूर्वाग्रह, बँधी-बँधाई धारणाओं एवं अज्ञानपूर्ण तर्क के साथ आसक्ति आन्तरिक प्रकाश के प्रति द्वार बन्द कर सकती है और भक्ति के पूर्ण प्रवाह को प्रत्येक वस्तु को आप्लावित करने से रोक सकती है; सम्भव है यह सतही मानसिक प्रवृत्ति से चिपटा रहे और अन्तर्मुख होने से तथा चैत्य दृष्टि को एवं आन्तरिक हृदय के भावों को अपना पथ-प्रदर्शक बनाने से इंकार कर दे यद्यपि इस अन्तर्दृष्टि और भावना के द्वारा ही भक्ति विकसित होती है और विजय प्राप्त करती है। इसी प्रकार प्राणिक सत्ता के आवेग और कामनाएँ तथा उसका अहं रास्ते को अवरुद्ध कर सकते हैं और भगवान् के प्रति मन और हृदय के आत्मदान को रोक सकते हैं। व्यक्ति की भौतिक चेतना का तमस्, अज्ञान और निश्चेतना, विचार तथा भाव और क्रिया की नियत आदतों के साथ इसकी आसक्ति, पुराने ढर्रों के लिये उसकी हठधर्मिता आवश्यक परिवर्तन के मार्ग में बुरी तरह बाधक बन सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में भगवान् को अपने समय की प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है; किंतु यदि हृदय के अन्दर सच्ची क्षुधा हो, तो यह सब भी अन्तिम सिद्धि को नहीं रोक सकते; तो भी, इसे तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है जब तक अवरोधों को न हटा दिया जाय या कम-से-कम इतना साफ कर दिया जाय कि वे बाहरी प्रकृति पर भागवत् शक्ति की क्रिया को निर्बाध आने दें। तब तक, मन में आंतरिक सुख के और कुछ प्रकाश के काल आ सकते हैं, भक्ति या शान्ति की अनुभूति के काल, कर्म और सेवा में आत्मनिवेदन के उल्लास के काल भी; क्योंकि इन्हें स्थायी रूप से बने रहने के लिये दीर्घ समय लगेगा और बहुत अधिक संघर्ष, अशान्ति और कष्ट होगा। अन्त में भगवान् की क्रियाएँ प्रकट होंगी और व्यक्ति उनकी उपस्थिति में निवास करने में समर्थ होगा।

...प्रायः प्रकाश और अंधकार का, सम्भवतः प्रारम्भिक उपलब्धि और बाद में आनेवाली भारी कठिनाइयों का, प्रगति और आक्रमण तथा गतिरोधों का, आगे बढ़ने की तीव्र गति और अज्ञान की दलदल में फँस जाने का एक के बाद एक आना होता है या उन कालों का मिश्रण होता रहता है। हो सकता है कि महान् उपलब्धियाँ और प्रकाश की महान् दीप्तियाँ एवं आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हों फिर भी लक्ष्य न प्राप्त हो; क्योंकि ऋग्वेद के शब्दों में , '**व्यक्ति जैसे-जैसे एक शिखर से दूसरे शिखर पर चढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके सामने जो अभी बहुत कुछ करना शेष है वह स्पष्ट होता जाता है**'। किंतु सदा ही ऐसा कुछ होता है जो या तो हमें आगे की ओर ले जाता है या बलात् आगे धकेलता है। यह वस्तु अग्र भाग में स्थित किसी ऐसी सचेतन वस्तु का, एक प्रभुत्वशाली आध्यात्मिक विचार का, अक्षय अभीप्सा या दृढ़ श्रद्धा का रूप धारण कर सकती है जो अन्धकार या प्रचण्ड उथल-पुथल के कालों में कभी पूरी तरह से आच्छादित या नष्ट हुई भी प्रतीत हो सकती है, किंतु सदा ही तूफान गुजर जाने पर या रात्रि का अन्धकार मद्धिम पड़ जाने के बाद फिर से प्रकट होती है और अपने प्रभाव को पुनः प्रतिष्ठित करती है। किंतु यह सत्ता के सारतत्त्व में विद्यमान कोई ऐसी वस्तु भी हो सकती है जो मन के विचार या संकल्प से अधिक गहरी हो, हृदय की अभीप्सा की अपेक्षा अधिक गंभीर और अधिक स्थायी हो परन्तु व्यक्ति की अपनी दृष्टि से छिपी हुई हो। वह जो योग की ओर मन के किसी कुतूहलवश या यहाँ तक कि उसकी ज्ञान की कामना से भी आया हो, तो निरशा या अन्य किसी कारण से पथभ्रष्ट हो सकता है; किंतु इससे भी अधिक जो योग का किसी आन्तरिक महत्त्वाकांक्षा या प्राणिक कामना से अनुसरण करते हैं वे विद्रोह या कुण्ठा या बारंबार होनेवाले अवरोध और असफलता से

उत्पन्न हानेवाली निराशा द्वारा पथभ्रष्ट हो सकते हैं। परन्तु यदि व्यक्ति में यह गंभीरतर वस्तु हो तो वह आध्यात्मिक प्रयास के पथ को स्थायी रूप से नहीं छोड़ सकता : व्यक्ति पथ को छोड़ने का निश्चय भले ही कर सकता है किंतु उसे ऐसा करने की अन्दर से अनुमति नहीं मिलती या हो सकता है कि वह इसे छोड़ दे किंतु अन्दर की किसी गुप्त आध्यात्मिक आवश्यकता के कारण इसकी ओर लौटाने को बाध्य हो जाए।

ये सभी चीजें प्रत्येक योग-पथ में सामान्य हैं; ये वे सामान्य कठिनाइयाँ, उतार-चढ़ाव और संघर्ष हैं जो आध्यात्मिक प्रयास के मार्ग में आते हैं।''[१२९]

***

''**हृदय की शुद्धि के लिये अत्यंत आवश्यक चीज है पूर्ण सच्चाई। स्वयं अपने साथ कोई छल-कपट नहीं, भगवान् से या स्वयं अपने से, या गुरु से कोई दुराव-छिपाव नहीं, अपनी गतिविधियों पर एक सीधी-सटीक दृष्टि और उन्हें सीधा करने के लिये एक सीधा संकल्प। इससे विशेष अंतर नहीं पड़ता यदि इसमें कुछ समय लगे तो : भगवान् की खोज करने को अपने समूचे जीवन का नियत-कार्य बनाने के लिये व्यक्ति को तैयार रहना चाहिये।** अन्ततः, हृदय के शुद्धिकरण का अर्थ है एक बहुत ऊँची उपलब्धि और उदास, निराश आदि होने का कोई लाभ नहीं है, क्योंकि वह अपने अन्दर उन चीजों को देखता है जिन्हें अभी भी बदलना आवश्यक है। यदि कोई अपने सच्चे संकल्प और सही मनोभाव को बनाये रखे तो भीतर से अंतः-प्रेरणाओं अथवा संकेतों का आना बढ़ने लगेगा, वे सुस्पष्ट, सटीक एवं अचूक बनते जायेंगे तथा उन्हें अनुसरण करने की शक्ति भी बढ़

जायगीः और तब **तुम्हारे स्वयं अपने-आप से भी संतुष्ट होने से पहले ही भगवान् तुमसे संतुष्ट हो जायेंगे और उस पर्दे को हटाना शुरु कर देंगे जिसके द्वारा वे स्वयं अपने को तथा अपनी खोज करनेवाले साधकों को उस महानतम वस्तु – जिसकी कि मनुष्यजाति अभीप्सा कर सकती है – को अपरिपक्व अवस्था में तथा खतरनाक तरीके से पकड़ने से बचाते हैं।''**[१३०]

५. मार्ग पर आने वाली कठिनाइयाँ तथा उनसे निपटने के उपाय

''जो भी आध्यात्मिक पथ पर प्रविष्ट होते हैं उन्हें पथ की कठिनाइयों और कठिन-परीक्षाओं का सामना करना पडता है; उनसे जो उनकी अपनी प्रकृति से उठती हैं तथा वे जो बाहर से आती हैं। प्रकृति की कठिनाइयाँ तब तक बार-बार उठती रहती हैं जब तक तुम इन पर विजय न प्राप्त कर लो; इनका सामना धैर्य और शक्ति दोनों ही के द्वारा करना होगा। परंतु परीक्षाओं एवं कठिनाइयों के उत्पन्न होने पर प्राणिक सत्ता की प्रवृत्ति अवसाद की ओर झुकने की होती है। यह तुम्हारे लिए ही कोई विशेष नहीं है, अपितु ऐसा सभी साधकों के साथ होता है – यह साधना के प्रति अयोग्यता नहीं दर्शाता या फिर विवशता के भाव को उचित नहीं ठहराता। किंतु तुम्हें इस अवसादरूपी प्रतिक्रिया को जीतने का अभ्यास करना होगा और सहायता के लिये माताजी की शक्ति का आह्वान करना होगा।

वे सभी जो पथ से दृढ़तापूर्वक लगे रहते हैं वे अपनी आध्यात्मिक नियति के सम्बन्ध में आश्वस्त रह सकते हैं। यदि कोई लक्ष्य तक पहुँचने में असफल रहता है तो ऐसा दो में से किसी एक कारण से हो सकता है, या तो वह इस मार्ग को ही छोड़ देता है या किसी महत्त्वाकांक्षा, अहंकार

अथवा कामना आदि के प्रलोभन में पड़कर भगवान् पर अपनी सच्ची निर्भरता से विचलित हो जाता है।''[१३१]

***

''तुम 'पाप पुरुष' (evil persona) के विषय में जो कहते हो उसमें मुझे बहुत रुचि है क्योंकि यह मेरे इसी के अनुरूप अनुभव से मेल खाता है कि **कार्य करने की महान् क्षमता से सम्पन्न व्यक्ति के साथ सदैव या लगभग सदैव – कदाचित् मनुष्य को इन चीजों के विषय में अत्यधिक कठोर सामान्य नियम नहीं बनाना चाहिये – एक ऐसी सत्ता संलग्न रहती है, जो कभी-कभी उसका एक अंग प्रतीत होती है, और जो उस वस्तु की ठीक विरोधी होती है जिसका वह अपने उद्दिष्ट कार्य में केंद्रीय रूप से प्रतिनिधित्व करता है। अथवा, यदि यह (सत्ता) आरम्भ में उसमें न हो अर्थात् वह उसके व्यक्तित्व से बँधी न हो तो ज्यों ही वह उसे चरितार्थ करने के लिये अपनी गतिविधि प्रारम्भ करता है त्यों ही इस प्रकार की एक शक्ति उसके वातावरण में प्रविष्ट हो जाती है।** ऐसा प्रतीत होता है कि इसका काम है विरोध करना, रोड़े अटकाना और गलत परिस्थितियाँ पैदा करना, एक शब्द में कहें तो, व्यक्ति ने जो काम आरंभ किया है उसकी सारी समस्याओं को उसके सामने रख देना। ऐसा प्रतीत होगा कि मानो वस्तुओं के गुह्य कार्य-व्यापार में यह समस्या तब तक हल नहीं की जा सकती जब तक कि पूर्वनिर्दिष्ट यन्त्र इस कठिनाई को अपना न बना ले। यह बात ऐसी अनेक वस्तुओं का स्पष्टीकरण देती है जो दिखने में बहुत क्षुब्ध करनेवाली प्रतीत होती है।''[१३२]

***

''जब आत्मा भगवान् की ओर आकृष्ट हो जाती है तब मन में एक प्रतिरोध हो सकता है और उसका सामान्य रूप होता है निषेध एवं सन्देह – जो मानसिक एवं प्राणिक कष्ट उत्पन्न कर सकता है। प्रतिरोध उस प्राणिक प्रकृति में भी उत्पन्न हो सकता है, जिसका प्रधान स्वभाव है वासना एवं काम्य विषयों में आसक्ति। इस क्षेत्र में यदि आत्मा और प्राणिक प्रकृति तथा दिव्याकर्षण एवं अज्ञान के खिंचाव के बीच संघर्ष हो तो स्पष्टतः मन एवं प्राणिक अंगो को अत्यधिक पीड़ा हो सकती है। भौतिक चेतना भी एक प्रकार का प्रतिरोध उत्पन्न कर सकती है जो सामान्यतया आधारभूत जड़ता का होता है, भौतिक के तत्त्व-मात्र में अन्धकारमयता है, और वह ऐसा न चाहे तब भी इससे ज्ञानप्राप्ति की अशक्यता, उच्चतर चेतना के प्रति प्रत्युत्तर देने की असमर्थता, यन्त्रवत् असहाय रूप से निम्न गतियों में प्रवृत्त होने का अभ्यास पैदा होता है; और इनका परिणाम संभवतः होता है प्राणिक तथा भौतिक दुःख-कष्ट। इसके अतिरिक्त विश्वप्रकृति में भी प्रतिरोध होता है जो सत्ता को अज्ञान से निकलकर प्रकाश में प्रवेश नहीं करने देना चाहती। यह प्रतिरोध व्यक्ति की पूर्ववर्ती चेष्टाओं को जारी रखने के तीव्र आग्रह का रूप ले सकता है, इन चेष्टाओं की लहरें मन, प्राण एवं शरीर पर प्रक्षिप्त की जाती हैं जिससे कि पुराने विचार, संवेग, कामनाएँ, भावनाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ निष्कासित एवं अस्वीकृत होने के बाद भी जारी रहती हैं, और किसी आक्रमणकारी सेना के रूप में पुनः बाहर से लौट कर आ सकती हैं, जब तक कि पूर्ण प्रकृति, भगवान् को निवेदित होने के कारण, उन्हें ग्रहण करने से इंकार न कर दे। यह वैश्व प्रतिरोध का आत्मपरक (subjective) रूप हुआ, परंतु यह एक बाह्य वस्तुपरक रूप भी ग्रहण कर सकता है, – (जैसे) विरोध, मिथ्याभियोग, आक्रमण, उत्पीड़न, अनेक प्रकार के दुर्भाग्य, विरोधी

अवस्थाएँ एवं परिस्थितियाँ, पीड़ा, व्याधि, व्यक्तियों अथवा अन्य शक्तियों द्वारा आघात। यहाँ भी दुःख-कष्ट की संभावना प्रत्यक्ष है। इन सब से निपटने के दो तरीके हैं – पहला है 'आत्म' भाव का, – शांत एवं समत्वपूर्ण – (जिसमें) भाव, संकल्प, मन, प्राण तथा भौतिक चेतना दृढ़ रूप से भगवान् की ओर अभिमुख रहते हैं और संदेह, कामना, आसक्ति, विषाद, दुःख, पीड़ा और जड़ता आदि के सभी सम्मोहनों से अविचलित रहते हैं। यह तभी सम्भव है जब आंतर-सत्ता जाग्रत हो जाती है और जब व्यक्ति अपने आत्म-तत्त्व, अपने अन्तर्मन, अन्तःप्राण एवं अन्तःशरीर के प्रति सचेतन हो जाता है क्योंकि ये अधिक सुगमता से अपने आप को दिव्य संकल्प से समस्वर कर सकते हैं और तब सत्ता में एक विभाजन हो जाता है मानों दो सत्ताएँ हो गई हों, एक तो आन्तरिक, जो शान्त, सशक्त, सम, अचंचल तथा दिव्य चेतना एव शान्ति की वाहिका हो; और दूसरी बाह्य जो अब भी निम्नतर प्रकृति के दबाव में है; किंतु इस बाह्य सत्ता के उपद्रव तब केवल सतही रह जाते हैं जो ऊपरी तरंगों से अधिक कुछ नहीं होते – अंततः ये भी आन्तरिक दबाव से धुँधले पड़ते-पड़ते लुप्त हो जाते हैं, और बाह्य सत्ता भी तब शान्त, एकाग्रचित्त, अक्षोभ्य बन जाती है। एक चैत्य मार्ग भी है, – जिसमें चैत्य सत्ता अपनी सहज शक्ति, अपने निवेदन, आराधना, भगवान् के प्रेम, आत्म-दान एवं समर्पण को लेकर प्रकट होती है और इन्हें मनोमय, प्राणमय एवं भौतिक चेतना पर अध्यारोपित करके उन्हें उनकी अपनी क्रियाओं को भगवतोन्मुख करने को बाध्य करती है। यदि चैत्य सत्ता आद्योपान्त सशक्त एवं स्वामी बनी रहे तो आत्मपरक (subjective) कष्ट होते ही नहीं अथवा बहुत कम होते हैं तथा बाह्य वस्तुपरक (objective) कष्ट आत्मा अथवा चेतना के अन्य अंगों को प्रभावित कर ही नहीं पाते – मार्ग सूर्यालोकित हो जाता है और एक महत्

आनन्द और माधुर्य सम्पूर्ण साधना पर छा जाता है। जहाँ तक बाह्य आघातों एवं विरोधी परिस्थितियों का प्रश्न है, सब कुछ उस शक्ति पर निर्भर करता है जो सत्ता के बाह्य प्रकृति के साथ सम्बन्ध का रूपान्तर करती है; जैसे-जैसे इस शक्ति की विजय होगी, कठिनाइयाँ समाप्त होती जाएँगी; पर ये कितनी भी देर रहें, ये साधना का अवरोध नहीं कर सकतीं क्योंकि तब विरोधी चीजें एवं घटनाएँ भी उसकी प्रगति एवं आत्मा के विकास में साधन बन जाती हैं।''[१३३]

६. विरोधी शक्तियों का विरोध

''विरोधी शक्तियों का एक निश्चित स्व-निर्धारित कार्य है – यह कार्य है व्यक्ति की, कार्य की और स्वयं पृथ्वी की अवस्था की परीक्षा करना तथा अध्यात्मशक्ति के अवतरण तथा सिद्धि के लिये उनकी तैयारी को जाँचना। यात्रा के प्रत्येक पग पर ये शक्तियाँ बड़ी प्रचंडता के साथ आक्रमण करती हुई, आलोचना करती हुई, प्रतिकूल बातें सुझाती हुई, निराशा उत्पन्न करती हुई या विद्रोह के लिये उकसाती हुई, अविश्वास पैदा करती हुई, कठिनाइयों का ढेर लगाती हुई विद्यमान रहती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस कार्य ने उन्हें जो अधिकार दे रखा है उसका ये अत्यन्त अतिरंजित अर्थ लगाती हैं और बाँबी के बराबर दिखायी देने वाले का भी पर्वत बना देती हैं। जरा-सा भी कहीं गलत कदम उठाया अथवा कोई भूल की कि ये रास्ते पर आ खड़ी होती हैं और रास्ता बन्द करने के लिये मानो समूचे हिमालय को लाकर खड़ा कर देती हैं। परन्तु पुरातन काल से ही इन शक्तियों के विरोध को केवल एक जाँच या अग्निपरीक्षा के रूप में ही अनुमति नहीं दी जाती रही है, अपितु इन्हें हमारे ऊपर इस बाध्यता के रूप में भी लादा गया है कि हम एक महत्तर

बल, एक पूर्णतर आत्म-ज्ञान, अभीप्सा की एक तीव्रतर शुद्धता एवं शक्ति, एक अदम्य श्रद्धा तथा भगवद्-कृपा के एक अधिक शक्तिशाली अवतरण की खोज करें।''[१३४]

***

''तुम पूछते हो कि क्या विरोधी 'शक्ति' 'भागवत्-शक्ति' से भी अधिक बलवती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य का अपने कर्म के लिये कोई उत्तरदायित्व नहीं और वह जो भी कर्म करता है या किसी भी तरह की भूल करता है और परिणामतः किसी भी फल को पाता है तो दोष दिव्य शक्ति का ही होता है। ऐसा हो सकता है, किंतु उस अवस्था में साधना करने की कोई आवश्यकता या उपयोगिता ही नहीं है। व्यक्ति को तो केवल शान्त बैठना है और विरोधी शक्ति या दिव्य शक्ति को जैसा वे चाहें वैसा करने देना है! **इस सिद्धान्त के अनुसार शैतान ने ईसा को जो कहा था वह बिल्कुल ठीक ही था, 'तुम इस पहाड़ पर से कूद पड़ो और भगवान् के दूत आकर तुम्हारा उद्धार करें' और ईसा का इस सुझाव को अस्वीकार करना और यह कहना बिल्कुल गलत था कि शास्त्रों में लिखा है 'तुम्हें प्रभु की, अपने देवता की, परीक्षा नहीं करनी चाहिये!' उसे कूद पड़ना चाहिये था और यदि उसकी हड्डी-पसली टूट जाती, तो इससे केवल यही सिद्ध होता कि विरोधी शक्तियाँ दिव्य शक्ति से अधिक महान् थीं!**

यदि कोई विरोधी शक्ति आये तो, व्यक्ति को उसके सुझावों को स्वीकार और उसका स्वागत नहीं करना चाहिये, अपितु माताजी की ओर मुड़ना चाहिये और उनसे (माताजी से) विमुख होने से इनकार करना चाहिये। भले ही व्यक्ति खुल सके या न खुल सके, उसे निष्ठावान् और

प्रभुपरायण रहना होगा। प्रभुपरायणता और सत्यनिष्ठा ऐसे गुण नहीं हैं जिनके लिये व्यक्ति को योग करना पड़े। वे ऐसी अत्यंत सरल चीजें हैं जिन्हें सत्य की अभीप्सा करनेवाले किसी भी स्त्री-पुरुष को प्राप्त करने में समर्थ होना चाहिये।

यह एक ऐसी बात है जिसे प्रत्येक व्यक्ति को समझ लेना चाहिये। चैत्य सच्चाई ही असुरों के सामने टिक पाने की शक्ति प्रदान करती है और दिव्य-संरक्षण को सक्रिय होने में समर्थ बनाती है।''[१३५]

***

''कोई सुनिश्चित प्रगति होना प्रायः विरोधी शक्तियों को अपनी क्रिया करने के लिए उकसा देता है, वे उसका प्रभाव यथासंभव कम-से-कम बनाना चाहती हैं। जब तुम्हें इस प्रकार का कोई निर्णायक अनुभव हो तो तुम्हें अपनी शक्तियों के छितराव और चेतना के किसी भी तरह से बहिर्मुख होने से बचते हुए अपने अन्दर केन्द्रित रहना चाहिये और प्रगति को आत्मसात् कर लेना चाहिये।

***

बहुधा एक अच्छी अनुभूति या निर्णायक प्रगति के बाद ही प्राणिक लोक की सत्ताएँ आक्रमण करने और डराने धमकाने की चेष्टा करती हैं... उन्हें सदा ही यह आशा रहती है कि वे साधक को आक्रमणों और धमकियों द्वारा उसके मार्ग से विमुख कर सकती हैं।

ऐसा प्रायः होता है। **जब कोई प्रगति कर ली जाती है (यहाँ यह आन्तरिक दृष्टि का उद्घाटन है) तो विरोधी शक्तियाँ क्रोधान्ध होकर टूट पड़ती हैं। जब तुम प्रगति कर रहे होते हो तब तुम्हें विशेष रूप से**

सावधान रहना होगा – जिससे आक्रमण के तुम्हारे अन्दर प्रवेश से पहले ही उसे रोका जा सके।''[१३६]

***

''साधना के तीन नियम हैं जो प्रारंभिक अवस्था में बहुत आवश्यक होते हैं और जिन्हें तुम्हें याद रखना चाहिये। सबसे पहले, अपने को अनुभव के प्रति खोलो पर अनुभवों का 'भोग' न करो। अपने को किसी विशेष प्रकार के अनुभव के साथ आसक्त न करो। सभी विचारों और सुझावों को सच्चा न मान लो और किसी ज्ञान, वाणी या चिन्तन-संदेश को चरम रूप से अन्तिम एवं निर्णायक न समझ लो। स्वयं सत्य केवल तभी सत्य होता है जब वह सर्वांगपूर्ण हो और व्यक्ति जैसे-जैसे ऊपर उठता है तथा उसे उच्चतर स्तर से देखता है वैसे ही सत्य अपना अर्थ बदलता जाता है।

मुझे तुम्हें उन विरोधी प्रभावों के सुझावों से सावधान करना होगा जो इस योग में सभी साधकों पर आक्रमण करते हैं। तुम्हें जो युरोपियन का अन्तर्दर्शन हुआ था वह स्वयं तुम्हारे लिये इस बात का सूचक है कि इन शक्तियों की आखें तुम पर लगी हुई हैं, और यदि वे पहले ही तुम्हारे विरोध में कार्य न कर रही हो तो अब करने के लिये तैयार हैं। उनके अधिक खुले आक्रमण नहीं किंतु वे सूक्ष्मतर सुझाव ही सबसे अधिक खतरनाक होते हैं जो सत्य का रूप धारण करते हैं; उनमें से सबसे अधिक आने वाले कुछ सुझावों की मैं चर्चा करूँगा।

तुम्हारे अहंकार को उत्तेजित करने की चेष्टा करनेवाले किसी भी सुझाव के विरुद्ध सतर्क रहो, उदाहरण के लिये यह कि तुम अन्य

लोगों से अधिक महान् साधक हो या कि तुम्हारी साधना अद्वितीय या असाधारण रूप से उच्च प्रकार की है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का कोई सुझाव तुम्हारे पास पहले से ही आ चुका है। तुम्हारा चैत्य अनुभवों का समृद्ध और तीव्र विकास हुआ किंतु इतने ही असंदिग्ध रूप में कुछ अन्य लोग भी उन्हें पा चुके हैं जिन्होंने यहाँ ध्यान-चिंतन किया है और तुम्हारे अनुभवों में से एक भी अपने प्रकार या कोटि की दृष्टि से अद्वितीय, या हमारे अनुभवों के लिये अपरिचित नहीं है। यदि ऐसा न भी हो तो भी अहंकार साधना के लिये सबसे बड़ा खतरा है और आध्यात्मिक दृष्टि से कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। समस्त महिमा भगवान् की ही है; किसी दूसरे की नहीं।

ऐसी किसी भी वस्तु से सावधान रहो जो तुम्हें किसी अशुद्धि या अपूर्णता से, मन में विभ्रम से, हृदय में आसक्ति, प्राण में कामना और आवेग से या शरीर के रोग से चिपटे रहने या उन्हें बनाए रखने का सुझाव देती है। इन वस्तुओं को चतुराई भरे समर्थनों और आवरणों के द्वारा बनाये रखना विरोधी शक्तियों की सामान्य युक्तियों में से एक है।''[१३७]

6. मार्ग विषयक कुछ अन्य आलोक

''यदि तुम पूर्ण-विश्वास के साथ भगवान् से कहो, 'मैं केवल तुम्हें चाहता हूँ', तो भगवान् सभी परिस्थितियों की इस प्रकार व्यवस्था कर देंगे जो तुम्हें सच्चा होने के लिए बाध्य करे।''[१३८]

***

''अपने विषय में जरा भी विचार न करने में एक उत्कृष्ट भव्यता है। आवश्यकताओं को अनुभव करना अपनी दुर्बलता को बल देना है; किसी वस्तु की आकांक्षा करना यह सिद्ध करता है कि हमारे पास उस वस्तु का अभाव है। कामना करने का अर्थ है असमर्थ होना; ऐसा करना अपनी सीमाओं को स्वीकार करना, उन्हें अतिक्रम करने की अपनी अक्षमता को मान लेना है।

(अन्य किसी दृष्टि से न सही), यदि समुचित आत्म-सम्मान की ही दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य को इतना पर्याप्त कुलीन तो होना चाहिए कि वह कामना का त्याग करे। स्वयं अपने लिये जीवन से या उसे अनुप्राणित करने वाली परम चेतना से किसी चीज की याचना करना कितना अपमानजनक है! हमारे लिए कितना अपमानजनक है, उस परम चेतना के विरुद्ध कितना अज्ञानतापूर्ण अपराध है यह! कारण, सब कुछ तो हमारी पहुँच के भीतर है, केवल हमारी सत्ता की अहंजन्य सीमाएँ ही हमें समस्त विश्व का उपभोग ठीक उतने ही पूर्ण और यथार्थ रूप में करने से रोकती हैं जितने पूर्ण और यथार्थ रूप में हम हमारे अपने शरीरों तथा उनके समीपस्थ परिवेश को धारण रखते हैं।''[१३९]

***

''तुम्हें सदा ही अपने अंदर पैठ जाना चाहिये — भीतर गहराई में पैठ जाना सीख लो — पीछे हट जाओ और तुम सुरक्षित हो

जाओगे। बाहरी जगत् में जो सामान्य शक्तियाँ विचरण कर रही हैं उनके हाथों में अपने-आपको मत छोड़ो। **यदि तुम किसी कार्य को करने की शीघ्रता में भी हो तो कुछ समय के लिये पीछे हट आओ, तब तुम्हें यह खोजकर आश्चर्य होगा कि कितनी शीघ्रता और कितनी अधिक सरलता के साथ तुम्हारा कार्य पूरा हो सकता है।** यदि तुम पर कोई गुस्सा हो तो उसके क्रोध के स्पंदनों में मत फँस जाओ, अपितु पीछे की ओर हट जाओ और उसका क्रोध कोई आधार या प्रत्युत्तर न पाने के कारण लुप्त हो जायेगा। सर्वदा अपनी शांति बनाये रखो, उसे खोने के सभी प्रलोभनों (प्रबल कारणों) का विरोध करो। बिना पीछे हटे कभी कोई निर्णय मत करो, बिना पीछे हटे कभी एक शब्द तक मत बोलो, बिना पीछे हटे कभी किसी काम में मत कूदो। सामान्य संसार से संबंधित जो कुछ भी है वह सब अनित्य और क्षणभंगुर है, इसलिये उसमें ऐसी कोई चीज नहीं जो उद्विग्न होने लायक हो। जो कुछ स्थायी, शाश्वत, अमर और अनंत है – वही वास्तव में पाने योग्य, जीते जाने योग्य, और अपने अधिकार में रखने योग्य है।''[१४०]

***

''प्रयास ही है जो आनंद देता है; जो मनुष्य प्रयास करना नहीं जानता उसे कभी आनंद नहीं मिलेगा। जो लोग मूलतः आलसी होते हैं उन्हें कभी आनंद नहीं मिलेगा, – उनमें हर्षित होने की क्षमता ही नहीं होती! प्रयास ही आनंद देता है। प्रयास सत्ता को एक निश्चित खिंचाव पर स्पंदित कर देता है जो तुम्हारे लिए आनंद अनुभव करना संभव बनाता है।''[१४१]

***

''मैं ऐसे लोगों को जानती थी जो झूठ न बोलने के लिये बहुत ही सतर्क रहते थे; किंतु अकस्मात्, जब वे किसी समुदाय में होते थे, तो सत्य न बोलकर सहज ही झूठ बोलने लगते थे; वे ऐसा करना नहीं चाहते थे, ऐसा करने से एक मिनट पहले भी उन्होंने ऐसा करने का विचार नहीं किया था, पर यह ''यूँ ही'' हो जाता था। क्यों ? – क्योंकि **वे झूठ बोलनेवालों की संगति में थे; वहाँ झूठ का वातावरण था और वे अनायास ही इस रोग की पकड़ में आ गए थे।**''[१४२]

***

''संपूर्ण जगत् विष से भरा हुआ है। तुम हर साँस के साथ उसे अंदर ले रहे हो। यदि तुम किसी अवांछनीय मनुष्य के साथ कुछ शब्दों का आदान-प्रदान करो अथवा इस प्रकार का मनुष्य तुम्हारे पास से हो कर निकल भर जाये, तो संभव है कि तुम उसके संक्रमण को ग्रहण कर लो। किसी महामारी की छूत से संक्रमित होने के लिए तुम्हारा उस स्थान के पास जाना ही पर्याप्त होता है; आवश्यक नहीं कि तुम्हें कुछ भी भान हो कि वहाँ वह महामारी है। कुछ ही क्षणों में तुम वह सब खो सकते हो जो प्राप्त करने में तुम्हें महीने लगे हों। जब तक तुम मानवता से संबद्ध हो और जब तक तुम साधारण जीवन व्यतीत करते हो तब तक यदि तुम संसारी लोगों से घुलो-मिलो तो इसमें कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता; किंतु यदि तुम दिव्य जीवन चाहते हो तो तुम्हें अपनी संगति और अपने परिवेश के बारे में अत्यधिक सतर्क रहना पड़ेगा।''[१४३]

***

''...यह तथ्य है कि जगत् जिस स्थिति में है उससे तब तक बाहर नहीं निकल सकता जब तक कि वह अपने-आपको भगवान् को न सौंप दे। सभी सद्गुण – तुम उनकी चाहे जितनी महिमा गाओ – तुम्हारे आत्म-तुष्टि को, अर्थात्, अहं को बढ़ाते हैं; वे तुम्हें सचमुच भगवान् के बारे में सचेतन होने में सहायता नहीं करते। इस जगत् के उदार और बुद्धिमान् लोग ही हैं जिन्हें बदलना सबसे कठिन होता है। वे अपने जीवन से बहुत संतुष्ट होते हैं। एक गरीब व्यक्ति जिसने जीवन में सब प्रकार की मूर्खताएँ की हों तुरंत दुःखी हो उठता है और कहता है : 'मैं कुछ नहीं हूँ, मैं कुछ नहीं कर सकता। मुझे तुम जो बनाना चाहो बना लो।' ऐसा व्यक्ति भगवान् के, उस व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक सही तथा अधिक निकट होता है जो बुद्धिमान् है तथा अपनी बुद्धिमत्ता और गर्व से भरा है।''[१४४]

***

''मूलतः, कष्टों का हिमस्खलन सदा ही सच्चे लोगों के लिये होता है। जो लोग सच्चे नहीं हैं उनके पास चीजें उन्हें धोखा देने के लिये बहुत तड़क-भड़क के साथ गहरे रंगों में आती हैं, पर अंत में उन्हें यह भान करने योग्य बना देती हैं कि उनकी भूल थी! किंतु जब किसी पर बड़ी कठिनाईयाँ आती हैं तो यह इस बात का प्रमाण है कि उसने निष्कपटता की एक निश्चित अवस्था प्राप्त कर ली है।''[१४५]

***

''मेरे बच्चे, व्यक्ति के पास जितना अधिक पैसा होता है, वह उतनी ही अधिक आपदा की अवस्था में होता है। हाँ, यह एक आपदा है।

पैसा होना एक महान् विपत्ति है। वह तुम्हें मूढ़ बना देता है, वह तुम्हें अति लोभी बना देता है, वह तुम्हें दुष्ट बना देता है। यह संसार की सबसे बड़ी विपत्तियों में से एक है। धन एक ऐसी चीज है जो तुम्हारे पास तब तक न होनी चाहिये जब तक तुम कामना-रहित ना हो जाओ। जब तुम्हारे अन्दर और अधिक कोई कामनाएँ, आसक्तियाँ न रहें, जब तुम्हारी चेतना धरती के समान विशाल हो जाये, तब सारी धरती का धन तुम्हारे पास हो सकता है; वह सभी के लिये बहुत अच्छा होगा। किंतु जब तक व्यक्ति ऐसा न हो, तब तक उसके पास जो भी धन है वह उस पर एक अभिशाप के समान है। यह बात मैं किसी को भी उसके मुँह पर कह सकती हूँ, ऐसे व्यक्ति के सामने भी जो धनवान् होना अपना बड़प्पन मानता है। यह एक आपदा है और संभवतः एक कलंक भी, अर्थात्, यह एक भागवत् अप्रसन्नता की अभिव्यक्ति है।

गरीब होने की अपेक्षा अमीर होने पर अच्छा होना, विवेकी होना, बुद्धिमान और उदार होना, अधिक उदार होना – समझ रहे हो – कहीं अधिक कठिन है। मैं बहुत-से देशों में बहुत से लोगों को जानती थी, और सभी देशों में मुझे जो भी सबसे अधिक उदार लोग मिले वे सबसे गरीब थे। जैसे ही जेबें भर जाती हैं कि व्यक्ति एक तरह की बीमारी से ग्रसित हो जाता है, वह है धन के लिये एक घिनौनी आसक्ति। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ, यह एक अभिशाप है।

अतः, जब तुम्हारे पास धन हो तो करने लायक पहली चीज यह है कि उसे दे दो। किंतु जैसा कि कहा जाता है कि धन को विवेक के बिना नहीं देना चाहिए, उन लोगों की तरह जाकर उस धन को मत बाँटो जो परोपकार करते हैं क्योंकि ऐसा करना उन्हें अपनी स्वयं की अच्छाई,

अपनी उदारता और अपने स्वयं के विषय में महत्त्व के बोध से भर देता है। तुम्हें सात्त्विक ढंग से क्रिया करनी चाहिये, अर्थात्, यथासंभव अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना चाहिए। और इसलिए, हर एक को अपनी उच्चतम चेतना में यह खोजना चाहिये कि उसके पास जो धन है उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग क्या हो सकता है। और वास्तव में यदि वह एक से दूसरे के पास संचारित न हो तो धन का कोई मूल्य नहीं। हर एक के लिये धन का मूल्य तभी है जब वह उसे खर्च करे। यदि वह उसे खर्च न करे तो...नैतिक दृष्टिकोण से वह सड़ जाता है।''[१४६]

''अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष दिव्य सत्य से सीधे संपर्क में है, पर वह मनुष्य के अन्दर मन, प्राण-सत्ता और भौतिक प्रकृति से ढका हुआ है। **व्यक्ति योगाभ्यास कर सकता है और मन तथा बुद्धि में आलोक प्राप्त कर सकता है; वह शक्ति आयत्त कर सकता है और प्राण के अन्दर सभी प्रकार की अनुभूतियों का आनन्द भोग सकता है; यहाँ तक कि व्यक्ति आश्चर्यजनक भौतिक सिद्धियाँ भी प्राप्त कर सकता है; परंतु पीछे अवस्थित अन्तरात्मा की सच्ची शक्ति, यदि प्रकट नहीं होती, यदि चैत्य प्रकृति सम्मुख नहीं आती तो फिर अभी तक कुछ भी वास्तविक कार्य नहीं हुआ है।** इस योग में चैत्य पुरुष ही वह है जो बाकी समस्त प्रकृति को सच्ची आध्यात्मिक ज्योति की ओर और अन्त में परम आनन्द की ओर खोलता है। मन स्वयं अपने-आप अपने ही उच्चतर स्तरों की ओर खुल सकता है, यह अपने आप को स्थिर कर सकता है और निर्व्यक्तिक में प्रसारित हो सकता है; यह किसी प्रकार की स्थैतिक मुक्ति या निर्वाण में जाकर अपने-आपको अध्यात्मभावापन्न भी बना सकता है; परंतु अतिमानस अकेले अध्यात्मिभूत मन में ही पर्याप्त

आधार नहीं प्राप्त कर सकता। यदि अंतरतम आत्मा जागृत हो, यदि महज मानसिक, प्राणिक और शारीरिक चेतना में से चैत्य चेतना में मनुष्य का नवजन्म होता है तब यह योग किया जा सकता है; अन्यथा (एकमात्र मन या किसी अन्य भाग की शक्ति के द्वारा) यह असम्भव है...। **यदि बौद्धिक ज्ञान या मानसिक विचारों या किसी प्राणिक कामना के प्रति आसक्ति होने के कारण चैत्य चेतना में नवजन्म लेना अस्वीकार हो, यदि श्रीमाता जी का नवजात बालक बनना अस्वीकार हो, तो साधना में असफलता ही होगी।**''[१४७]

List of References

1. *CWM 1, p.380*
2. *CWSA 21, p.48*
3. *CWM 4, p.246*
4. *CWM 6, p.15-16*
5. *CWM 14, p.5*
6. *CWM 14, p.3*
7. *CWSA 12, p.98*
8. *CWSA 23, p.53*
9. *CWSA 12, 497*
10. *CWSA 23, p.54-56*
11. *SABCL. 23, p.550*
12. *CWM 6, p.444*
13. *CWSA 23, p.69-71*
14. *SABCL. 23, p.806*
15. *SABCL. 23, p.547-48*
16. *SABCL. 23, p.549*
17. *SABCL. 23, p.550*
18. *SABCL. 23, p.550*
19. *SABCL. 23, p.550*
20. *CWSA 23, p.6*
21. *SABCL. 23, p.503*
22. *SABCL 23. p.512*
23. *SABCL. 23, p.793*
24. *CWSA 23, p.45-47*
25. *CWSA 32, p.6-7*
26. *CWSA 13, p.74*
27. *CWSA 19, p.559-61*
28. *SABCL. 22, p.233*
29. *SABCL. 22, p.236-37*
30. *SABCL. 22, p.239*
31. *SABCL. 22, p.239*
32. *SABCL. 22, p.265*
33. *SABCL. 22, p.267*
34. *SABCL. 22, p.267-68*
35. *SABCL. 22, p.278*
36. *SABCL. 22, p.288*
37. *CWM 12, p.31-32*
38. *CWM 4, p.164-65*
39. *SABCL 22, p.298*
40. *SABCL. 24, p.1112*
41. *CWM 8, p.33-34*
42. *SABCL 20, p.83*
43. *CWSA 23, p.90*
44. *SABCL. 21, p.743*
45. *CWM 3, p.152*
46. *CWSA 22, p.896*
47. *SABCL 23, p.572-73*
48. *SABCL 23, p.581*
49. *SABCL 23, p.571*
50. *CWSA 24, p.604-05*
51. *CWSA 24, p.605*
52. *SABCL 23, p.757*
53. *SABCL. 23, p.776*
54. *SABCL. 23, p.776*
55. *CWSA 19, p.345*
56. *CWM 3, p.114-15*
57. *CWM 6, p.349*
58. *CWM 4, p.135-36*
59. *CWM 3, p.128*
60. *CWM 10, p.172*
61. *CWM 15, p.396-97*
62. *SABCL 23, p.541*
63. *CWM 6, p.190*
64. *SABCL. 23, p.877*
65. *SABCL. 23, p.878*
66. *SABCL 23, p.941*
67. *SABCL. 23, p.931*
68. *SABCL. 23, p.932-33*
69. *SABCL. 23, p.936*
70. *SABCL. 23, p.936*
71. *SABCL. 23, p.937*
72. *SABCL. 23, p.954-55*
73. *SABCL. 22, p.381*
74. *SABCL. 24, p.1731*
75. *SABCL. 24, p.1731-32*
76. *CWM 7, p.343-44*
77. *CWSA 18, p.58*
78. *SABCL. 24, p.1628*
79. *SABCL. 23, p.598*
80. *CWM 6, p.138-39*
81. *CWM 10, p.56*
82. *SABCL. 23, p.519-20*
83. *SABCL. 23, p.520*
84. *SABCL. 23, p.614*
85. *SABCL. 23, p.614*
86. *SABCL. 23, p.614*
87. *SABCL. 23, p.615*
88. *SABCL 23, p.615-16*
89. *SABCL. 24, p.1629-30*
90. *SABCL. 24, p.1395*
91. *SABCL. 23, p.902-03*
92. *SABCL. 23, p.887-88*
93. *SABCL. 23, p.788-89*
94. *SABCL. 23, p.906*
95. *SABCL. 23, p.904-05*
96. *SABCL. 23, p.892*
97. *CWSA 19, p.368-69*
98. *CWM 8, p.277-78*
99. *CWM 4, p.135*

100. *CWSA 36, p.337*
101. *SABCL. 23, p.884-86*
102. *SABCL 23, p.931*
103. *SABCL. 23, p.931*
104. *SABCL 23, p.935-36*
105. *SABCL 23, p.939-40*
106. *SABCL 23, p.933-34*
107. *SABCL. 23, p.991-94*
108. *Evening Talks With Sri Aurobindo: A.B. Purani, p.715-16*
109. *CWM 3, p.7*
110. *CWM 6, p.124-25*
111. *CWM 6, p.444-45*
112. *CWSA 19, p.94-95*
113. *CWSA 19, p.334-35*
114. *CWSA 23, p.81-82*
115. *CWM 4, p.73-75*
116. *CWM 6, p.323-24*
117. *CWSA 23, p.71-73*
118. *Evening Talks with Sri Aurobindo: A.B. Purani, p.361*
119. *CWSA 23, p.74-78*
120. *SABCL 23, p.525-26*
121. *CWM 3, p.152-53*
122. *SABCL 23, p.594*
123. *SABCL. 23, p.804*
124. *SABCL. 23, p.589*
125. *SABCL. 23, p.529-30*
126. *SABCL. 23, p.909-10*
127. *SABCL 23, p.912*
128. *SABCL 24, 1164-69*
129. *SABCL. 24, p.1621-24*
130. *SABCL. 23, p.903-04*
131. *SABCL. 24, p.1615*
132. *SABCL. 24, p.1660*
133. *SABCL 24, p.1616-17*
134. *SABCL 24, p.1734*
135. *SABCL. 24, p.1741*
136. *SABCL. 24, p.1745-46*
137. *SABCL. 23, p.1047-48*
138. *CWM 6, p.176*
139. *CWM 1, p.359*
140. *CWM 3, p.160*
141. *CWM 4, p.31*
142. *CWM 4, p.37*
143. *CWM 3, p.6-7*
144. *CWM 5, p.14*
145. *CWM 5, p.157-58*
146. *CWM 7, p.54-55*
147. *SABCL. 24, p.1095-96*

CWM : Collected Works of the Mother

CWSA: Complete Works of Sri Aurobindo

SABCL: Sri Aurobindo Birth Centenary Library